इस्लाम-दर्पण

मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ ख़ाँ

संकलन

नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

विषय-सूची

अध्याय–3

नैतिकता का महत्व और समाज

अध्याय–4

इस्लाम की आर्थिक और राजनीतिक शिक्षाएँ

अध्याय–5

धर्म की सेवा और इस्लामी आमंत्रण

'बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम'

"अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपाशील, अत्यन्त दयावान है।"

भूमिका

इस्लाम सारे ही इनसानों के नाम सर्वशक्तिमान ख़ुदा का अन्तिम सन्देश है जो पूरी मानव-जाति के लिए और रहती दुनिया तक के लिए अपने अन्दर सर्वोत्तम शिक्षा और मार्गदर्शन रखता है।

इस्लाम का मार्गदर्शन मानव-जीवन के किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था है। इसमें जहाँ एक ओर व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है, और उसे शाश्वत कल्याण और भलाई का रास्ता भी दिखाया गया है, वहीं दूसरी ओर इनसानी समाज को भी सम्बोधित किया गया है और समाज को एक सकारात्मक और रचनात्मक परिवर्तन का रास्ता दिखाया गया है। इसमें जहाँ आस्थाओं और उपासनाओं की शिक्षा दी गई है, वहीं जीवन के दूसरे मुद्दों पर भी चर्चा की गई है। इसमें एक ओर जहाँ सामाजिक मुद्दों की बात की गई है, वहीं राजनीतिक और आर्थिक विषयों के बारे में भी बेहतरीन शिक्षा दी गई है। जहाँ इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि इनसान अपने पालनहार का हक़ और अधिकार अदा करे, वहीं बार-बार इस बात की भी याद दिलाई गई कि वह अपने जैसे दूसरे मनुष्यों के अधिकारों को भी अदा करे।

मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ ख़ाँ मशहूर इस्लामी विद्वान और विचारक हैं। वे क़ुरआन के हिन्दी और उर्दू अनुवादों के अलावा कई महत्वपूर्ण किताबों के लेखक भी हैं। इस किताब में लेखक ने आधुनिक मानसिकता और मनोवृत्ति को सामने रखते हुए इस्लाम को बहुत ही सरल और वैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया है। यह किताब एक ऐसा निर्मल दर्पण है जिसमें पाठक को इस्लाम की एक बहुत ही स्पष्ट और आकर्षक तस्वीर देखने को मिलेगी।

यह किताब वास्तव में कोई स्थायी कृति नहीं है, बल्कि इसमें उनके द्वारा लिखे गए विभिन्न आलेखों आदि को एकत्र कर दिया गया है। इसका अधिकतर भाग मौलाना की मशहूर रचना 'हदीस सौरभ' से लिया गया है।

इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार कुछ दूसरे आलेखों को भी इसमें शामिल किया गया है। इस तरह यह किताब अपने क्रम और सामग्री की दृष्टि से एक सुन्दर किताब बन गई है जिसमें पाठक को कहीं भी कोई ख़ालीपन या अक्रमबद्धता महसूस नहीं होगी।

इस किताब में कुल पाँच अध्याय हैं। पहले अध्याय में मौलिक विचारों और धारणाओं का वर्णन किया गया है, जिसमें तौहीद (एकेश्वरवाद), तकदीर, रिसालत (ईशदूतत्व), आख़िरत (परलोकवाद) और आसमानी किताबों (ईश-ग्रंथों) के सम्बन्ध में इस्लामी धारणाओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में इबादतों और रूहानियत (उपासनाओं और आध्यात्मिकता) के अन्तर्गत इस्लामी इबादतों, नमाज़, रोज़ा, ज़कात, हज, दुआ और अल्लाह का ज़िक्र जैसे महत्वपूर्ण विषयों का रोचक वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में इस्लामी नैतिक शिक्षाओं के अतिरिक्त इस्लाम की सामाजिकता इस्लामी सभ्यता और संस्कृति पर विस्तृत वार्ता की गई है। चौथे अध्याय में इस्लाम की आर्थिक और राजनीतिक शिक्षाओं के अतिरिक्त धर्म का बोलबाला शीर्षक के अन्तर्गत इस्लाम की क्रान्ति की धारणा और धर्म की स्थापना के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। पाँचवाँ अध्याय धर्म की सेवा और आमंत्रण के शीर्षक से है। इसमें धर्म की सेवा और दीन-धर्म का प्रचार-प्रसार करने के सिलसिले में अहम बातें पेश की गई हैं।

सत्य यह है कि मौलाना की यह किताब एक बहुमूल्य उपहार है। इसमें आधुनिक मुस्लिम मानसिकता के लिए भी अच्छा मार्गदर्शन है और देशवासियों के लिए भी मार्गदर्शन का सर्वोत्तम सामान्य ज्ञान मौजूद है। इस किताब का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित करने की भी योजना है। सारी दुनिया के पालनहार—अल्लाह से दुआ है कि वह हमारी इस कोशिश को क़बूल करे। आमीन!

—नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
सेक्रेट्री
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट
(दिल्ली)

अध्याय-1

मौलिक विचार और धारणाएँ

मनुष्य अपने जीवन को कभी विचार और धारणाओं से रिक्त नहीं रख सकता। हर व्यक्ति का कोई-न-कोई दृष्टिकोण, मत और धारणा होती है जिसके अन्तर्गत वह जीवनयापन करता है। संसार में जिन प्रत्यक्ष वास्तविकताओं से हम परिचित हैं, वास्तविकताएँ उन्हीं तक सीमित नहीं है। कितनी ही ऐसी चीज़ें हैं जिनको हम अनुभव-शक्ति से मालूम नहीं कर सकते, हमें उनका ज्ञान बुद्धि और तर्क द्वारा होता है। A. E. Mander ने लिखा है कि दिखाई पड़नेवाली घटनाएँ वास्तविकता के केवल कुछ अंश हैं। अनुभव-शक्ति और इन्द्रियों के द्वारा हम जो कुछ जानते हैं वे केवल आंशिक और असम्बद्ध घटनाएँ होती हैं। यदि अलग से केवल उन्हीं को देखा जाए तो वे निरर्थक होंगी। वे प्रत्यक्ष घटनाएँ जिनका अनुभव होता है उनके साथ और बहुत-सी ऐसी अप्रत्यक्ष घटनाओं को मिलाकर जब हम देखते हैं उस समय हम उनका अर्थ समझ पाते हैं। उसकी दृष्टि में जब हम कभी किसी निरीक्षण का उल्लेख करते हैं तो उससे अभिप्रेत ऐन्द्रिक निरीक्षण मात्र से कुछ अधिक होता है। उससे अभिप्रेत ऐन्द्रिक निरीक्षण और अनुभूति (Recognition) दोनों ही होते हैं, जिसमें कुछ व्याख्या (Interpretation) का अंश भी सम्मिलित होता है। मनुष्य ऐन्द्रिक निरीक्षण और उन प्रत्यक्ष वास्तविकताओं पर ही सन्तोष नहीं कर सकता जिनसे वह प्रत्यक्षतः परिचित होता है। वह जो कुछ देखता और महसूस करता है उसके अतिरिक्त भी उसका कोई-न-कोई विचार और कल्पना होती है और इसके लिए वह विवश होता है।

जीवन और वास्तविकताओं की सही व्याख्या और मानवीय जीवन के सही विचार और दृष्टिकोण से परिचित करानेवाले अल्लाह के भेजे हुए बन्दों को नबी और रसूल कहा जाता है। नबी वास्तव में अल्लाह के प्रतिनिधि होते हैं। अल्लाह उन्हें इसी लिए भेजता है कि वे मनुष्यों को सही और सत्यानुकूल

विचारों की शिक्षा दें और लोगों को हर प्रकार की वैचारिक और व्यावहारिक पथभ्रष्टता से बचाएँ। नबियों ने मनुष्यों को जो विचार और दृष्टिकोण दिए वे किसी अनुमान और अटकल पर आधारित नहीं हैं। नबियों को उन धारणाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान अल्लाह की ओर से दिया गया। जिन धारणाओं की शिक्षा नबियों ने दी है उनमें से किसी एक का खण्डन भी नवीन खोजों और अनुसंधानों से नहीं होता, और न इसकी आशा की जा सकती है कि भविष्य में कोई खोज और अनुसंधान उनके मिथ्या होने का प्रमाण बन सकेगा। बल्कि नवीन खोजों से नबियों की शिक्षा और उनके दृष्टिकोण का समर्थन और पुष्टि ही होती है। जीवन के सही दिग्दर्शन के लिए आवश्यक है कि मनुष्य नबियों पर और उनकी लाई हुई हिदायत और मार्गदर्शन पर विश्वास करे। नबियों पर ईमान लाए बिना मनुष्य अंधियारियों से छुटकारा नहीं पा सकता। जीवन के लिए केवल बुद्धि और अनुभव का मार्गदर्शन पर्याप्त नहीं। इस सिलसिले में शीन (Sheen) ने सही विश्लेषण किया है। वह लिखता है—

> "हमारी अनुभव शक्ति और इन्द्रियाँ उत्तम रीति से उस समय काम करती है जब बुद्धि द्वारा उनकी पूर्ति हो जाए। इसी प्रकार हमारी बुद्धि भी उस समय ठीक काम कर सकती है जबकि ईमान के द्वारा उसकी पूर्ति हो जाए। जो व्यक्ति अस्थायी रूप से (जैसे शराब पीनेवाला शराब पीकर) बुद्धिविहीन हो जाता है, उसकी अनुभव शक्ति और इन्द्रियाँ वही होती हैं जो पहले थीं; परन्तु उस समय वह कभी भी अपने कर्त्तव्यों का पालन उस तरह नहीं कर सकता जिस तरह वह बुद्धि और होश की हालत में कर सकता है। जो दशा बुद्धि के बिना इन्द्रियों की होती है ठीक वही दशा वह्य (ईश-मार्गदर्शन) के बिना बुद्धि की होती है।"

आँख से काम लेने के लिए प्रकाश और दीप की आवश्यकता होती है। बुद्धि से भी सही काम उसी समय लिया जा सकता है जबकि उसके लिए वह्य और नुबूवत का प्रकाश संचित कर दिया जाए।

सही धारणा और सत्य-विचार मनुष्य को हर प्रकार की गुमराही और

पथभ्रष्टता से बचाते हैं और उसके चरित्र और स्वभाव को महान शक्ति प्रदान करते हैं। विचार और धारणाएँ ही वास्तव में किसी व्यक्तित्व या जाति की महानता की ज़ामिन होती है। दृष्टिकोण और विचार यदि सही और उच्च हैं तो निश्चय ही वे किसी व्यक्ति या जाति को महानता प्रदान कर सकते हैं। इसके विपरीत अपने विचार और धारणाओं की दृष्टि से यदि कोई जाति गिरी हुई या पथभ्रष्ट है तो कोई दूसरी चीज़ उसे प्रतिष्ठा का वह स्थान नहीं दिला सकती जो संसार में केवल उच्च विचार, शुद्ध धारणा और सही दृष्टिकोण के द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि सही-से-सही और उच्च-से-उच्च विचार और दृष्टिकोण भी व्यावहारिक क्षेत्र में निरर्थक सिद्ध होते हैं यदि उन्हें ग्रहण करनेवाला कोई ऐसा गरोह धरती पर मौजूद न हो जो उनके लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर सके और उसके प्रचार में हर वह कोशिश करे जो वह कर सकता हो। विचार और धारणाओं के द्वारा ही मनुष्य के आंतरिक भावों और अनुभूतियों में सन्तुलन और दृढ़ता पैदा होती है। चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक है कि मनुष्य के विचार और उसके मनोवेग और इच्छाओं में अनुरूपता पाई जाती हो। मनुष्य यदि अपने विचार और मनोवेग एवं इच्छाओं में एकता बनाए रखने में सफल न हो सका तो वह अपने सामयिक उद्वेगों के हाथ में एक खिलौना मात्र है, इससे अधिक उसकी कोई हैसियत नहीं। ऐसे व्यक्ति से किसी उच्च और सुदृढ़ चरित्र एवं स्वभाव की आशा नहीं की जा सकती और न ही ऐसे व्यक्तियों से यह आशा की जा सकती है कि उनके द्वारा किसी सुदृढ़ सभ्यता का विकास हो सकेगा। जार्ज फूट मूर (George Foot Moor) के शब्दों में सभ्यता केवल इस रूप में विकास पा सकती है जबकि मनुष्यों की अधिक-से-अधिक संख्या किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हो। इस प्रकार का संगठन केवल विचारों और कल्पनाओं की एकता (Unity of Bare Ideas) के आधार पर सम्भव नहीं होता। यह संगठन मनोवेगों और अनुभूतियों की एकता से सम्भव होता है, जिनसे कल्पनाओं एवं विचारों को प्रेरणा मिलती है और वे (केवल विचार और कल्पना न रहकर) आस्था और उद्देश्य बन जाते हैं।

इस्लाम ने विचार और धारणा को मानव-जीवन में वही स्थान दिया है

ज्ञान एवं विवेक

मानव-जीवन में ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। ज्ञान ही वास्तव में मनुष्य के चरित्र और आचार का मौलिक आधार है। मनुष्य की सफलता वास्तव में इस बात पर निर्भर करती है कि उसे वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त हो, जिसके अनुसार वह अपने जीवन का निर्माण कर सके। यदि उसे इस बात का ज्ञान ही न हो कि उसे यह जीवन किसने प्रदान किया है और उसके जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, तो वह कभी भी जीवन के सीधे और सच्चे मार्ग पर नहीं चल सकता और न ही अपने सृष्टिकर्त्ता की इच्छा को कभी पूरी कर सकता है। उसकी मिसाल बिलकुल ऐसी होगी जैसे कोई गहन अन्धकार में भटक रहा हो और उसे इसकी बिलकुल ख़बर न हो कि वह कहाँ है और उसे किस ओर जाना चाहिए। एक ईमानवाले (आस्तिक) व्यक्ति और ग़ैर-ईमानवाले (नास्तिक व ईश्वर का अवज्ञाकारी) में वास्तविक अन्तर ज्ञान और कर्म ही का है। इस अन्तर के कारण उनके जीवन और उनके परिणाम में महान अन्तर पाया जाता है। ईमानवालों को संसार में भी उत्तम जीवन (हयाते-तैयबा) प्राप्त होता है और आख़िरत में भी वे अल्लाह की कृपा एवं दयालुता और उसकी जन्नत के अधिकारी होंगे। नास्तिक और अवज्ञाकारी केवल अल्लाह के प्रकोप और जहन्नम की यातना का भागी होगा। यही कारण है कि क़ुरआन और हदीस में ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता को मौलिक महत्त्व दिया गया है। क़ुरआन में कहा गया है—

> "कह दो, क्या बराबर होते हैं वे लोग जो जानते हैं और वे लोग जो नहीं जानते?" (क़ुरआन, सूरा-39 ज़ुमर, आयत-9)
>
> "अल्लाह उन लोगों के दर्जे ऊँचे कर देगा जो तुममें से ईमान ले आए और जिन्हें ज्ञान प्रदान किया गया है।"
> (क़ुरआन, सूरा-58 मुजादला, आयत-11)
>
> "अल्लाह से तो उसके बन्दों में बस ज्ञानवाले ही डरते हैं।"
> (क़ुरआन, सूरा-35 फ़ातिर, आयत-28)

"और कहो ऐ रब! मुझे और अधिक ज्ञान प्रदान कर।"

(क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-14)

"और जिसे हिकमत (तत्वदर्शिता) दी गई, उसे बहुत बड़ी दौलत दी गई।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-269)

कुफ़्र करनेवालों (नास्तिकों एवं अवज्ञाकारियों) और मुशरिकों (बहुदेववादियों) को विशेष रूप से इसलिए अपराधी कहा गया है कि वे ज्ञान का अनुसरण नहीं करते, बल्कि अपनी इच्छाओं के दास हैं और केवल अटकल और अनुमान से काम लेते हैं। कहा गया—

"वे तो बस अपनी इच्छाओं के दास हैं और गुमान पर चलते हैं, और गुमान हक़ बात के सामने कुछ काम नहीं देता।"

(क़ुरआन, सूरा-53 नज्म, आयत-28)

" ये लोग तो बस गुमान पर और जो जी चाहता है उसपर चल रहे हैं।" (क़ुरआन, सूरा-53 नज्म, आयत-23)

"और उस व्यक्ति से बढ़कर भटका हुआ कौन होगा जो अल्लाह के मार्गदर्शन के बिना अपनी (तुच्छ) इच्छा पर चले।"

(क़ुरआन, सूरा-28 क़सस, आयत-50)

ऐसे लोग वास्तव में बुद्धि और सूझ-बूझ से वंचित होते हैं—

"क्या तुम समझते हो कि इनमें अधिकतर सुनते या समझते हैं? ये तो बस चौपायों की तरह हैं—बल्कि ये और बढ़कर राह से भटके हुए हैं।" (क़ुरआन, सूरा-25 फ़ुरक़ान, आयत-44)

दीन में समझ और अल्लाह की उतारी हुई किताब में सूझ-बूझ प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य है। इसके बिना हमारी चेष्टाएँ अव्यवस्थित और हमारा जीवन अस्त-व्यस्त और अनियमित ही रहेगा। हमारे विश्वास और विचार को खोखला और हमारी इबादतों और उपासनाओं को प्राणहीन और निस्सार होने से जो चीज़ बचा सकती है वह यही है कि आदमी दीन में समझ हासिल करे और क़ुरआन व नबी (सल्ल॰) के तरीक़े में सोच-विचार से काम ले। इसी लिए नबी (सल्ल॰) ने मुसलमानों को इसकी बार-बार ताकीद की है कि वे दीन में सूझ-बूझ हासिल करें और उसके आदेशों को समझें।

स्वाभाविक धर्म

इस्लाम उस जीवन-प्रणाली का नाम है जो स्वाभाव से ही मनुष्य को अपेक्षित है। रसूलों को भेजकर अल्लाह ने मनुष्य को जिन चीज़ों का स्मरण कराया है वे उनकी अपनी प्रकृति और स्वभाव ही की माँगें हैं। इस्लाम विचार एवं व्यवहार का ऐसा विधान है जो बुद्धि-विवेक और हमारी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। इसी कारण क़ुरआन ने इस्लाम को सरल मार्ग से अभिहित किया है।[1] इस्लामी आदेशों का उल्लंघन करना वास्तव में अपनी प्रकृति और अपने स्वभाव का विरोध और अल्लाह की रचना को विकृत करना है।[2] इस्लाम ने जिन चीज़ों का आदेश दिया है स्वभावतः उन्हीं के द्वारा व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त होती है। उन्हीं से मनुष्य का व्यक्तित्व निखरता और विकसित होता है। और जिन बातों से इस्लाम ने रोका है वे वही हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व को विकृत करती हैं और वह अपने प्राकृतिक एवं स्वाभाविक उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रह जाता है। व्यक्ति की सिद्धि एवं पूर्णता (Perfection) और आत्मा की शुद्धि एवं विकास ही शरीअत (धर्मशास्त्र) का मौलिक उद्देश्य है। यही कारण है कि क़ुरआन में आत्म-बुद्धि और आत्म-विकास को अन्तिम लक्ष्य बताया गया है। एक जगह कहा गया—

> "सफल हो गया जिसने उसे (आत्मा को) निखारा, और असफल हुआ जिसने उसे दबाया।" (क़ुरआन, सूरा-91 शम्स, आयतें-9-10)

एक दूसरी जगह कहा गया—

> "ऐ हमारे रब! उन लोगों के बीच उन्हीं में एक ऐसा रसूल उठाना जो उन्हें तेरी आयतें पढ़कर सुनाए, उन्हें किताब और हिकमत की शिक्षा दे और उनकी आत्मा को शुद्ध (करके उसे विकसित होने का अवसर प्रदान) करे।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-129)

---

1. उदाहरणार्थ देखिए, क़ुरआन 1:7, 2:142, 213; 3:51, 101; 6:126, 153; 19:36; 36:61, 43:61, 64; 15; 41; 5:16, 10:25
2. दे. क़ुरआन 4:119

इस आयत से मालूम हुआ कि रसूल लोगों को क़ुरआन सुनाते और उन्हें शरीअत (धर्मशास्त्र) और हिकमत (तत्वदर्शिता, Wisdom) की शिक्षा देते हैं, और परिणाम की दृष्टि से उनकी आत्मा को शुद्ध और विकसित करते हैं। शुद्ध एवं विकसित करने (तज़किया) के शब्द स्वयं इस वास्तविकता पर प्रकाश डालते हैं कि अल्लाह को मनुष्य से कोई ऐसी चीज़ अपेक्षित नहीं है जो मनुष्य की अपनी प्रकृति अथवा स्वभाव के प्रतिकूल हो।[1] मनुष्य से केवल इसकी माँग की गई है कि वह अपने व्यक्तित्व को विकसित करे और उन नैतिक गुणों की पूर्णता का आयोजन करे जो उसकी प्रकृति में अन्तर्निहित हैं। इस्लाम में व्यक्ति की पूर्णता-प्राप्ति ही मूल वस्तु है। क़ियामत में प्रत्येक व्यक्ति को वास्तव में जिस चीज़ का हिसाब देना है वह यही कि संसार में अल्लाह ने उसे जो शक्तियाँ और योग्यताएँ प्रदान की थीं उनसे काम लेकर वह स्वयं क्या बन सका है? वह अपना क्या व्यक्तित्व बनाकर अल्लाह की सेवा में पहुँचा है? इस्लाम में सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक विधान का महत्व इसी लिए है कि वह व्यक्ति की पूर्णता-प्राप्ति में सहायक होता है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति एक ओर स्वयं अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है दूसरी ओर दूसरे लोगों को पूर्णता की प्राप्ति में उससे सहयोग मिलता है। इस्लाम ने न व्यक्ति को ऐसी स्वतंत्रता दी है जिससे समाज को किसी प्रकार की हानि पहुँचे और न ही इस्लाम में समाज को ऐसे अधिकार दिए गए हैं जो व्यक्ति से उसकी वह स्वतंत्रता छीन ले जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अभीष्ट हैं। 'इस्लाम' ने व्यक्ति और समाज में अत्युत्तम सन्तुलन स्थापित किया है। इस्लाम प्रत्येक दृष्टि से मनुष्य की प्रकृति और उसके व्यक्तित्व और

---

1. इस्लाम वास्तव में उन्हीं वास्तविकताओं को, जो मानव-प्रकृति में अन्तर्निहित हैं, प्रकट करके मनुष्य को उनसे परिचित करता है। वह ईमान और कर्म की ओर बुद्धि एवं विवेक ही के मार्ग में बुलावा देता है, वह मनुष्य को उसके वास्तविक स्वभाव एवं प्रकृति और उसकी अपेक्षाओं से परिचित कराता है। यही कारण है कि क़ुरआन ने अपने को ज़िक्र (अनुस्मारक) और 'तबसिरह' (आँखें खोलने की सामग्री) के नाम से प्रस्तुत किया है।

सामाजिक अपेक्षाओं और आवश्यकताओं के नितान्त अनुकूल है। इसका अनुभव हर उस व्यक्ति को होगा जिसने इस्लाम का अध्ययन एक 'दीन' और जीवन-व्यवस्था के रूप में किया होगा।

इस्लामी दृष्टिकोण से मानव-व्यक्तित्व का विकास सम्भव ही नहीं जब तक कि मनुष्य अपना और अपने प्रयास और साधनाओं का वास्तविक लक्ष्य ईश-प्रसन्नता को न ठहराए। ईश्वर की चाह और उसका प्रेम ही हमारे दीन व ईमान (धर्म व आस्था) का अन्तिम लक्ष्य है। अल्लाह के आज्ञापालन, उसकी दासता और आत्म-निवेदन में ही वास्तविक जीवन है जिसकी मानव-प्रकृति को जिज्ञासा है। अल्लाह के उतारे हुए आदेशों का पालन किसी दमनकारी विधान की अधीनता स्वीकार करना कदापि नहीं है, बल्कि यह ऐसे क़ानून का अनुपालन है जो स्वयं अपनी प्रकृति का क़ानून और नियम है।[1] अल्लाह का आज्ञापालन वास्तव में एक ऐसे शासक का आज्ञापालन है जिसका राजसिंहासन स्वयं हमारे हृदय का गहना है। अल्लाह का इनकार करने के पश्चात न केवल यह कि संसार अपनी प्रियता एवं आकर्षण से वंचित हो जाता है, बल्कि मानव-जीवन से शान्ति, परितोष और वास्तविक आनन्द सदैव के लिए विदा हो जाते हैं। जीवन, जीवन के उच्चतम मूल्यों (Values) से वंचित होकर रह जाता है। खाने-पीने और भोग-विलास के अतिरिक्त जीवन का कोई उच्च अभिप्राय और अर्थ शेष नहीं रहता। अल्लाह का दिखाया हुआ मार्ग और उसकी दासता एवं आज्ञापालन में ही मनुष्य के लिए जीवन है। उसकी सफलता का मार्ग इसके अतिरिक्त और कोई नहीं है कि वह अपने जीवन में वह पद्धति अपनाए जिसकी शिक्षा अल्लाह ने अपने नबियों के द्वारा दी है—

"कह दोः अल्लाह का मार्गदर्शन ही (वास्तव में) मार्गदर्शन है, और हमें आदेश मिला है कि हम संसार के रब के लिए अपने

---

1. यही कारण है कि अल्लाह की वह्य को, जिसके द्वारा हम ख़ुदा के आदेशों और नियमों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, क़ुरआन ने 'जीवन', 'सुन्दर आजीविका' और 'प्रकाश' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। इसके साक्षी पूर्व आसमानी ग्रन्थ भी हैं।

आपको अर्पण कर दें और यह कि नमाज़ क़ायम करो और उससे डरो, वही है जिसके पास तुम इकट्ठे किए जाओगे।"

(क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयतें-71-72)

नबी जो आदेश और मार्गदर्शन (Guidance) हमारे लिए लेकर आए वही वास्तविक जीवन का मार्गदर्शन है। क़ुरआन के अतिरिक्त अन्य पुरातन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इंजील में है—

"धर्म-ग्रन्थ में लिखा है—मनुष्य केवल रोटी से ही नहीं जीता है, बल्कि वह परमेश्वर के मुख से निकलनेवाले हर एक शब्द से जीवित रहता है।" (मत्ती, 4:4)

इंजील (धर्म-ग्रन्थ) में कहा गया है—

अर्थात् अल्लाह के हुक्म और आदेश से मानव को जीवन मिलता है। शरीअत (धर्मशास्त्र) के पालन में ही उसका वास्तविक जीवन है। क़ुरआन में कहा गया—

"क्या वह व्यक्ति जो मुरदा था फिर हमने उसे जीवित किया, और उसके लिए प्रकाश कर दिया जिसको लिए हुए वह लोगों के बीच चलता-फिरता है, उस व्यक्ति की तरह हो सकता है जो अँधेरों में पड़ा हो, उन (अँधेरों) से निकलनेवाला ही न हो?"

(क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-122)

क़ुरआन की इस आयत में ईमान को जीवन और शरीअत (धर्मशास्त्र) का पालन करने को प्रकाश लेकर चलना कहा गया है। जिस व्यक्ति को ईमान न मिल सका, जिसे सत्यता का ज्ञान न हो सका, वह निर्जीव पत्थर के समान है, उसे वास्तविक जीवन प्राप्त नहीं। जिसको जीवन का सीधा, सहज और स्वाभाविक मार्ग नहीं मिला वह उस व्यक्ति जैसा है जो अँधेरों में इधर-उधर भटक रहा हो और उसके पास कोई प्रकाश न हो जिससे वह उस मार्ग को अपना सके जो मंज़िल तक पहुँचता है।

ईश्वर की कल्पना

इस्लाम की सम्पूर्ण वैचारिक और व्यावहारिक व्यवस्था में जिस चीज़ को मौलिक एवं केन्द्रीय स्थान प्राप्त है वह अल्लाह में विश्वास है। दूसरी धारणाएँ और आदेश वास्तव में इस एक मूल की शाखाएँ हैं। जितने भी विचार, आदेश और मान्यताएँ हैं उनमें दृढ़ता और सार्थकता अल्लाह में विश्वास द्वारा ही आती है। यदि इस एक केन्द्र से निगाह हटा ली जाए तो प्रत्येक चीज़ अर्थहीन हो जाएगी और इस्लाम की सम्पूर्ण व्यवस्था, चाहे उसका सम्बन्ध विचार एवं आस्था से हो या व्यवहार से, छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

इस्लाम में अल्लाह को मानने और उसपर ईमान लाने का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि अल्लाह मौजूद है, बल्कि इस विश्वास में अल्लाह की सत्ता और उसके गुणों की उचित और पूर्ण कल्पना पाई जाती है। यह विश्वास हमें अल्लाह की सत्ता और उसके गुणों की जो कल्पना देता है उसका हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है। यही कारण है कि इस्लाम अल्लाह में विश्वास द्वारा केवल यही नहीं कि आत्मा की शुद्धि एवं विकास और नैतिक सुधार का काम लेता है, बल्कि इसी को उसने जीवन के समस्त कार्य-कलाप और मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति की आधारशिला माना है।

इस्लाम ने प्रभुता एवं ईशवरत्व की जो कल्पना प्रस्तुत की है उसकी दृष्टि से इलाह (प्रभु एवं पूज्य) और ईश्वर वही हो सकता है जो परम स्वतंत्र, निरपेक्ष और सर्वशक्तिमान हो, जो सदा से हो और सदैव रहनेवाला हो। जिसे प्रत्येक चीज़ का ज्ञान हो, जो तत्त्वदर्शी, ज्ञान एवं बुद्धि का स्रोत हो, जिस शक्ति के आधीन सब हों और जिसकी दयालुता अत्यन्त व्यापक हो। जिसके हाथ में ज़िन्दगी और मौत, फ़ायदा और नुक़सान सब कुछ हो। जिसकी कृपादृष्टि और जिसकी रक्षा के सभी आकांक्षी हों। जिसकी ओर सबकी वापसी हो। जो सबका हिसाब लेनेवाला हो, और जिसे किसी को

दण्ड देने या पुरस्कृत करने का पूर्ण अधिकार हो। प्रभुता एवं ईश्वरत्व कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका विश्लेषण या विभाजन किया जा सके। उसे शरीर और संतानोत्पत्ति आदि वृत्ति से लिप्त समझना ही सही न होगा। समस्त ईश्वरीय गुण केवल एक सत्ता में एकत्र हो सकते हैं और वह अल्लाह ही की सत्ता है। अल्लाह की सत्ता सर्वोच्च है। विश्व की सब चीज़ें उसी के अधीन और आश्रित है। वही इस अखिल विश्व का व्यवस्थापक और निर्माता है। वही कभी न समाप्त होनेवाले ख़ज़ानों का स्वामी है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसकी महानता एवं महत्ता को पहचाने। उसके आगे झुकें, उसी से डरें, उसी से आशा करें, उसी पर उसका भरोसा हो। माँगे तो उसी से माँगे। दुख और संकट में पुकारें तो उसे ही पुकारें। उसी के पास सबको लौटकर जाना है। वही हमारे शुभ-अशुभ कर्मों का हिसाब लेनेवाला है। वही है जिसके निर्णय पर मनुष्य का अच्छा या बुरा परिणाम निर्भर है। तौहीद या एकेश्वरवाद की यही धारणा है जिसकी शिक्षा पिछले समस्त नबियों ने दी है। इस धारणा का मानव-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अल्लाह पर ईमान मनुष्य को ईश्वरीय आदेश और उसके नियत किए हुए नियमों और विधान का पाबन्द बनाता है और उसके अन्दर उत्तरदायित्व का एहसास पैदा करता है। अल्लाह पर ईमान रखनेवाला व्यक्ति यह समझता है कि उसका अल्लाह प्रत्येक अवस्था में उसे देखता है। वह उसकी पकड़ से नहीं बच सकता। इसलिए वह अकेला हो या लोगों के साथ हो, हर दशा में अल्लाह से डरता और उसके दिए हुए नियमों और उसकी निश्चित की हुई सीमाओं व मर्यादाओं का आदर करता है। फिर अल्लाह में विश्वास उसे नैतिकता एवं चरित्र के उच्चतम स्तर तक पहुँचाता है। अल्लाह पर ईमान रखनेवाला कभी संकीर्ण-दृष्टि नहीं हो सकता और न उसे गर्व और अहंकार का रोग लग सकता है। वह जानता है कि अखिल विश्व ईश्वर का है। उसकी मित्रता और शत्रुता अपने लिए नहीं, अल्लाह के लिए होती है। इस तरह उसकी सहानुभूति, प्रेम और सेवा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। वह जानता है कि उसे जो कुछ प्राप्त है वह अल्लाह का दिया हुआ है; फिर वह गर्व कैसे कर सकता है। अल्लाह में विश्वास रखने के परिणामस्वरूप मनुष्य को

आत्म-गौरव और स्वाभिमान का उच्च स्थान प्राप्त होता है। वह अल्लाह ही को समस्त शक्तियों का स्वामी समझता है। उसका विश्वास होता है कि अल्लाह ही के अधिकार में हानि-लाभ, जीवन-मरण सब कुछ है। अतः वह अल्लाह के सिवा किसी से नहीं डरता। अल्लाह के सिवा किसी के आगे उसकी गरदन नहीं झुकती। वह अल्लाह के सिवा समस्त शक्तियों से निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य-पालन में लग जाता है। उसका ईमान है कि उसका अल्लाह निरपेक्ष और न्यायशील है। उसका क़ानून निष्पक्ष और बेलाग है। किसी को उसकी खुदाई में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं है कि उसकी पकड़ से किसी को बचा सके। उसके यहाँ आत्मा की शुद्धता और सत्कर्म के अतिरिक्त और कोई चीज़ काम आनेवाली नहीं है, इसलिए वह किसी से ग़लत और अनुचित आशाएँ नहीं रखता। उसका खुदा कभी समाप्त न होनेवाले ख़ज़ानों और शक्तियों का स्वामी है, इसलिए न वह निराश होता है और न साहस छोड़ता है। उसमें धैर्य, सन्तोष, दृढ़ता और वीरता की वह शक्ति होती है कि बड़ी-से-बड़ी विरोधी शक्तियाँ भी उसका मार्ग नहीं रोक सकती। वह लोभी और लालची नहीं होता, वह अत्यन्त निस्पृह होता है। वह अल्लाह की कृपा और उसकी प्रदान की हुई जीविका का इच्छुक होता है; परन्तु जीविकोपार्जन के लिए किसी निकृष्ट उपाय का अवलम्बन कदापि नहीं करता। वह जानता है कि अल्लाह अपने ज्ञान और तत्त्वदर्शिता (Wisdom) के अन्तर्गत जिसको जो कुछ चाहता है प्रदान करता है। वह अल्लाह के फ़ैसले पर राज़ी होता है और अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए अधिक-से-अधिक सचेष्ट रहता है।

तक़दीर पर ईमान

तक़दीर पर ईमान वास्तव में अल्लाह पर ईमान ही का एक अंश है। क़ुरआन में इसको इसी हैसियत से बयान भी किया गया है। उदाहरणार्थ देखिए—

> "कहो ईश्वर, मुल्क के स्वामी! तू जिसे चाहे राज्य दे और जिससे चाहे छीन ले, जिसे चाहे इज़्ज़त दे और जिसे चाहे रुसवा कर दे। भलाई तेरे इख़्तियार में है। निस्सन्देह तू हर चीज़ की शक्ति रखता है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-26)

> "तुम जहाँ कहीं भी होगे मृत्यु तो तुम्हें आकर रहेगी, चाहे तुम मज़बूत बुर्जों (क़िलों) में ही (क्यों न) हो। यदि उन्हें कोई अच्छी हालत पेश आती है तो कहते हैं, यह तो अल्लाह के पास से है। परन्तु यदि उन्हें कोई बुरी हालत पेश आती है तो कहते हैं, यह तुम्हारे कारण है। कह दो, हर एक चीज़ अल्लाह के पास से है। आख़िर इन लोगों को क्या हो गया है कि ये ऐसे नहीं लगते कि कोई बात समझ सकें।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-78)

> "मूसा ने अपनी क़ौम से कहा, अल्लाह से सम्बद्ध होकर सहायता प्राप्त करो और धैर्य से काम लो। धरती अल्लाह की है। वह अपने बन्दों में से जिसे चाहता है, उसका वारिस बना देता है। और अन्तिम परिणाम तो डर रखनेवालों ही के लिए है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-128)

> "वह जिसका राज है आकाशों और धरती पर, और उसने न तो किसी को अपना बेटा बनाया और न राज में उसका कोई साझी है। उसने हर चीज़ को पैदा किया; फिर उसे ठीक अन्दाज़े पर रखा। फिर भी उन्होंने उससे हटकर ऐसे ईष्ट-पूज्य बना लिए जो किसी चीज़ को पैदा नहीं करते, बल्कि वे स्वयं पैदा किए जाते हैं।

उन्हें न तो अपनी हानि का अधिकार प्राप्त है और न लाभ का। और न उन्हें मृत्यु का अधिकार प्राप्त है और न जीवन का और न दोबारा जीवित होकर उठने का।"

(क़ुरआन, सूरा-25, फ़ुरक़ान, आयतें-2,3)

"जो मुसीबत भी धरती में आती है और तुम्हारे अपने ऊपर, वह अनिवार्यतः एक किताब में अंकित है, इससे पहले कि हम उसे अस्तित्व में लाएँ–निश्चय ही वह अल्लाह के लिए आसान है–(यह बात तुम्हें इसलिए बता दी गई) ताकि तुम उस चीज़ का अफ़सोस न करो जो तुमसे जाती रहे और न उसपर फूल जाओ जो उसने तुम्हें प्रदान की हो। अल्लाह किसी इतरानेवाले, बड़ाई जतानेवाले को पसन्द नहीं करता।"

(क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयतें-22,23)

अल्लाह के मानने में वस्तुतः तक़दीर का मानना भी सम्मिलित है। तक़दीर का इनकार वास्तव में अल्लाह का इनकार है। हज़रत इब्ने अब्बास (रज़ि॰) कहते हैं–

"तक़दीर पर ईमान से तौहीद (एकेश्वरवाद) की व्यवस्था सम्बद्ध है। जो व्यक्ति ईमान लाए और तक़दीर का इनकार करे तो उसने तौहीद (एकेश्वरवाद) का क्षय कर दिया।"

(दे॰ किताबुस्सुन्नह–इमाम अहमद रह॰, पृष्ठ-123)

तक़दीर पर ईमान वास्तव में अल्लाह की प्रभुता और उसकी महानता को स्वीकार करना है। यह इस बात को मानना है कि अल्लाह सर्वशक्तिमान और परम शासक है। उसका ज्ञान सबको अपनी परिधि में समेटे हुए है। कोई भी चीज़ उसकी ज्ञान-परिधि से बाहर नहीं। उसने हर चीज़ का अन्दाज़ा ठहराया है, कोई भी चीज़ उससे बाहर नहीं जा सकती। उसकी शक्ति और अधिकार के अन्तर्गत हर चीज़ है। वह हर चीज़ के आरंभ और अन्त को जानता है। यह संसार उसकी सोची-समझी योजना (Scheme) के अन्तर्गत चल रहा है। कोई उसे उसकी योजना में असफल नहीं कर सकता।

फिर हानि-लाभ की सारी शक्तियाँ उसके अधिकार में हैं। जीवन प्रदान करनेवाला और मृत्यु देनेवाला वही है। रोज़ी का मालिक वही है। जिसे चाहे अधिक दे, जिसकी रोज़ी चाहे कम कर दे। आदर-सम्मान, वैभव, शक्ति, बल, शासन आदि सबकुछ उसके अधिकार में है। वह अपनी तत्त्वदर्शिता की दृष्टि से जिसको जितना चाहता है प्रदान करता है। उसकी हिकमत (तत्वदर्शिता) त्रुटिहीन है, उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं पाई जाती। उसका कोई काम और उसका कोई फ़ैसला व्यर्थ और निरुद्देश्य नहीं है। इस लोक में धन, प्रसिद्धि, सुन्दरता, बल और दूसरी चीज़ें सबको समान रूप से नहीं मिली हैं। यह व्यवस्था उसी की स्थापित की हुई है और इसमें पूर्ण रूप से हिकमत (Wisdom) और मस्लहत (शुभ हेतु) पाई जाती है। उसकी हिकमतों को पूर्ण रूप से जान लेना मनुष्य के लिए संभव नहीं। न किसी में यह सामर्थ्य है कि वह अल्लाह की निर्मित व्यवस्था को बदल सके। हमें चाहिए कि हम उन सीमाओं में रहते हुए अपने उन कर्तव्यों को पूरा करें जो अल्लाह ने हमारे लिए निर्धारित किए हैं। सफलता-असफलता सब उसी के हाथ में है। वही है जो गिरे हुए को उठाता और उठे हुए को गिराता है। वही असफलताओं में सफलता की राहें निकालता है। वही उन लोगों को—जो अपनी सरकशी और उद्दण्डता में रत और अपनी धन-सामग्री पर गर्व कर रहे होते हैं, असफलता के बुरे दिन दिखाता है।

तक़दीर को मानने से मनुष्य के विचार और दृष्टि में बड़ी व्यापकता आ जाती है। उसे अपार शक्ति और बल मिल जाता है, वह निश्चित और धैर्यवान हो जाता है। उसका भरोसा अपने पालनकर्त्ता अल्लाह पर होता है। अल्लाह पर भरोसा उसमें संकल्प और उत्साह की वह शक्ति उत्पन्न कर देता है जिसका मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। वह चेष्टा और परिश्रम से नहीं भागता, प्रयास और कर्म के द्वारा उसे अपने रब (पालनकर्त्ता स्वामी) की सहायता और उसकी कृपा की खोज होती है। वह कभी हताश नहीं होता। अल्लाह और तक़दीर को मानने से आत्मसम्मान और निश्चिन्तता के साथ-साथ उसकी आत्मा को ऐसी शुद्धता और पवित्रता प्राप्त होती है जिसपर संसार की प्रत्येक वस्तु निछावर की जा सकती है। लोभ, वासना और

ईर्ष्या एवं द्वेष की तुच्छ भावनाएँ उसके हृदय में स्थान नहीं बना सकतीं। उसे यदि सबकुछ मिल जाए तो वह गर्व नहीं करता, यदि तंगी और संकट का सामना करना पड़े तो वह अधीर नहीं होता। वह अल्लाह का एक कर्त्तव्यपरायण, धैर्यवान और कृतज्ञ सेवक होता है। अल्लाह के गुणगान और स्मरण को मूल जीवन-निधि जानता है।

तक़दीर पर ईमान के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य को अधिकार प्राप्त है या वह मात्र विवश है। इस सिलसिले में लोगों में बड़ा भ्रम पाया जाता है। तक़दीर या नियति की समस्या वास्तव में बुद्धि के विरुद्ध नहीं है। लेकिन यह समस्या निश्चय ही सूक्ष्म और नाज़ुक है। इसी लिए तक़दीर के सिलसिले में वाद-विवाद से रोका गया है और अच्छे कर्म करने पर ज़ोर दिया गया है।

सत्य यह है कि मनुष्य न मात्र विवश है और न सर्वथा उसे अधिकार प्राप्त है। मनुष्य को किसी विशेष युग और किसी विशेष वातावरण में पैदा होने का ज़ाहिर है कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। ईश्वर के निर्णय के अनुसार वह किसी विशेष युग और देश और वातावरण में पैदा होता है। वह यदि घराने में पैदा होता है तो यह ईश्वर के निर्णय के अनुसार होता है। इसमें उसका कोई अधिकार नहीं। इसी तरह किसी व्यक्ति का निर्धन के यहाँ पैदा होना भी उसके अपने अधिकार में नहीं होता। इसी प्रकार लोग विभिन्न योग्यताओं के होते हैं। यह भी उनके अपने व्यक्तिगत अधिकार से नहीं होता। इसलिए लोगों से यह नहीं पूछा जाएगा कि तुम अमुक युग और अमुक देश में क्यों पैदा हुए या तुम हीन योग्यता लेकर किसी निर्धन घराने में क्यों पैदा हुए। जीवन में इस तरह के मामलों में यद्यपि विवशता दिखाई देती है तो इस सिलसिले में इनसान की इसपर कोई पकड़ नहीं होगी।

लेकिन जैसा कि कहा गया कि मनुष्य मात्र विवश नहीं है, उसे अधिकार भी प्राप्त है। उसे यह अधिकार है कि मानव-जगत् में पाई जानेवाली विभिन्न धारणाओं और आस्थाओं में से जिसको चाहे अपनाए और जिसको चाहे छोड़ दे। इसी तरह जीवन-पद्धति और धर्मों के सिलसिले में जिसको चाहे अपना ले और जिसको चाहे छोड़ दे। अधिकार-सम्बन्धी

मामलों ही में उससे हिसाब लिया जाएगा कि उसने सोच-विचार और बुद्धि से काम लेते हुए सत्य धारणाओं और आस्थाओं को अपनाया या नहीं और जीवन की विभिन्न शैलियों और धर्मों में से सत्य पर आधारित जीवन-शैली और सत्य धर्म को अपनाया या नहीं और उसने ईशप्रदत्त बुद्धि और चिन्तन से कहाँ तक काम लिया। बुद्धि और विवेक रखते हुए यदि वह अज्ञान-ग्रस्त हुआ तो क्यों हुआ? इस सिलसिले में उसकी सख़्त पकड़ होगी और उसके अपराधी होने के कारण वह दण्ड का भागी होगा। किन्तु यदि किसी ने बुद्धि, विवेक और सोच-विचार से काम लेते हुए हर प्रकार के पक्षपात और संकुचित दृष्टि से बचते हुए जीवन में सत्य के अनुकूल निर्णय लिया और सत्य पर आधारित धारणाएँ और आस्थाएँ ग्रहण किए और सत्य धर्म का अनुसरण किया तो वह ईश्वर का आज्ञाकारी कहलाएगा और ईश्वर की अनुकम्पाओं और ईश्वर के पारितोषिक से सुसज्जित किया जाएगा।

इससे ज्ञात होता है कि तक़दीर पर ईमान वास्तव में ऐसा नहीं है कि वह बुद्धि एवं विवेक के विरुद्ध हो। मनुष्य जिस मामले में विवश है, उसमें उसकी कोई पकड़ नहीं है। उससे हिसाब तो उन मामलों में लिया जाएगा, जिनको उसने अपनी स्वतंत्रता के साथ अपनाया हुआ है।

सर्वज्ञ ईश्वर हर चीज़ की ख़बर रखता है। उसे मालूम है कि लोगों में से वे कौन होंगे जो अपने इरादे और संकल्प से सत्यानुकूल काम लेंगे और सत्य मार्ग पर चलेंगे और वे कौन लोग होंगे जो अपनी सरकशी और उद्दण्डता के कारण बुद्धि और विवेक को त्यागकर पक्षपात और पूर्वाग्रह के कारण सत्य मार्ग से दूर रहेंगे। उनका कर्म ईश्वर की इच्छाओं के विरुद्ध होगा, लेकिन यह सब जानते हुए ईश्वर ने सरकश और विरोधी लोगों को भी पैदा होने दिया, क्योंकि ईश्वर परम स्वतंत्र है। किसी की सरकशी और विरोध से उसे कोई नुक़सान नहीं पहुँच सकता और अपराधियों और विरोधियों के लिए नरक में जगह की कोई तंगी भी नहीं है। इसी पहलू से कहा जाता है कि कौन लोग स्वर्ग में जानेवाले हैं और कौन नरकगामी, यह पहले से निश्चित हो चुका है।

रिसालत (ईशदूतत्व) की धारणा

मनुष्य को संसार में जहाँ भोजन, जल और प्रकाश आदि की आवश्यकता है, वहीं उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उसका कोई एक मार्गदर्शक हो जो उसे अल्लाह का मार्ग बता सके। जो उसे बता सके कि उसके जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है? अल्लाह ने उसे संसार में क्यों भेजा है? मार्गदर्शन (Guidance) के बिना मनुष्य ईश्वरीय इच्छा के अनुसार जीवन-यापन नहीं कर सकता, हालाँकि अल्लाह की प्रसन्नता और शाश्वत सफलता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि मनुष्य का जीवन अल्लाह की दासता और आज्ञापालन में व्यतीत हो। जो अल्लाह हमारी छोटी-छोटी आवश्यकताओं को नहीं भूलता, बल्कि उन्हें पूरी करने की व्यवस्था करता है, उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह हमें यूँ ही संसार में भटकने के लिए छोड़ देगा और हमारे मार्गदर्शन की कोई व्यवस्था न करेगा।

मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए एक मार्गदर्शक तो अल्लाह ने मनुष्य के अपने अन्तर में रख दिया है। अल्लाह ने मानव-प्रकृति को ऐसे साँचे में ढाला है कि वह अच्छे-बुरे विचार और भले-बुरे कर्म में अन्तर कर सके। इसके साथ ही अल्लाह ने विश्व में अपनी निशानियाँ और चिह्न फैला रखे हैं जिनके द्वारा मनुष्य को सत्य के लिए दिशा-दर्शन मिल सकता है। किन्तु मानवीय मार्गदर्शन के लिए अन्तर्बोध का सहज ज्ञान सम्बन्धी (Intuitional) और ऐहिक (Cosmic) दिशा-दर्शन को ही पर्याप्त नहीं समझा गया, बल्कि इसके साथ अल्लाह ने मनुष्यों के बीच अपने रसूलों और नबियों को भेजा ताकि वे लोगों को जीवन का सत्य और स्वाभाविक मार्ग दिखाएँ और उन्हें आचार-विचार की प्रत्येक पथभ्रष्टता से बचाएँ। अल्लाह ने जिन महान पुरुषों को रिसालत (ईशदूतत्व) का पद प्रदान किया उन्हें उसने असाधारण ज्ञान और सूझ-बूझ दी ताकि वे स्वयं सत्यमार्ग पर स्थिर रह सकें और दूसरे लोगों को सत्यमार्ग दिखाने के प्रति अपने दायित्वों को पूरा कर सकें।

पथभ्रष्टता और गुमराही से बचने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य रसूल पर ईमान लाए और उसके आदेशों का पालन करे। रसूल अल्लाह के सन्देष्टा होते हैं। उनपर ईमान लाए बिना न अल्लाह के विषय में मनुष्य की धारणा और कल्पना ठीक हो सकती है और न दूसरी परोक्ष सम्बन्धी वास्तविकताओं के सम्बन्ध में उसे सही दिशा ज्ञान मिल सकता है जिसपर पूरा भरोसा किया जा सके, और न ही उसका जीवन ईश्वरीय इच्छा के अनुसार व्यतीत हो सकता है।

फिर रिसालत (ईशदूतत्व) पर ईमान ही वह चीज़ है जो सारे मनुष्यों को एक आस्था और विश्वास पर संगठित कर सकती है। लोगों में धारणा एवं विचार सम्बन्धी जितने भी मतभेद पाए जाते हैं उनका कारण वास्तव में गुमान, अटकल और अनुमान का अनुपालन है। वास्तविकता विभिन्न नहीं हो सकती। रसूलों के पास अल्लाह का दिया हुआ वास्तविक ज्ञान होता है। उन्होंने एक ही सत्य की ओर लोगों को आमंत्रित किया। संसार के विभिन्न भागों में जितने भी रसूल आए सबकी मौलिक शिक्षा एक थी। सबने लोगों को एकेश्वरवाद, ईश-दासता और ईश-उपासना की ओर बुलाया और उन्हें आख़िरत के दिन से सचेत किया। अल्लाह के रसूलों ने जो आदेश भी दिए वे अल्लाह की ओर से दिए और जीवन की जिस पद्धति की शिक्षा दीं वह वही हैं जो अल्लाह की ओर से उन्हें मिली थीं। अल्लाह के रसूलों ने जो शिक्षा दी है वह सत्य और न्याय पर अवलम्बित है। वह अटकल, अनुमान और तुच्छ इच्छाओं और वासनाओं से रहित है।

अल्लाह की ओर से लोगों के मार्गदर्शन के लिए बहुत-से रसूल और नबी आए जिनमें से कुछ का क़ुरआन में उल्लेख भी हुआ है। सबके अन्त में अल्लाह ने हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) को अपना रसूल और पैग़म्बर बनाकर भेजा। आपका जीवन-चरित्र और आपके जीवन-वृत्तांत विस्तार के साथ सुरक्षित हैं। आप (सल्ल॰) की लाई हुई किताब उन्हीं शब्दों के साथ मौजूद है जिन शब्दों में आप (सल्ल॰) ने उसे संसार के सामने प्रस्तुत किया था। पिछले नबियों के जीवन-चरित्र और उनकी शिक्षाएँ आज अपने वास्तविक रूप में सुरक्षित नहीं हैं। उनसे जिस चीज़ का भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह

ऐसा नहीं जिसको पूरे भरोसे के साथ लोगों के सामने प्रस्तुत किया जा सके। पिछले नबियों की मौलिक शिक्षाएँ क्या थीं और उन्होंने लोगों को किस मार्ग की ओर बुलाया था इसे मालूम करने का एक ही साधन ऐसा है जिसपर पूरा विश्वास किया जा सकता है। वह है अल्लाह के अन्तिम रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) का चरित्र, उनकी जीवनी और उनका लाया हुआ सन्देश, जो अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने मौजूद है। आपने संसार को जिस मार्ग की ओर बुलाया है वही वह मार्ग है जिसकी ओर पिछले नबियों ने भी लोगों को आमंत्रित किया था।

पिछले नबियों की नुबूवत (ईशदूतत्व) विशेष समय और विशेष लोगों के लिए थी जिनमें वे आए थे। हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की नुबूवत को अल्लाह ने किसी विशेष युग या किसी विशेष जाति तक सीमित नहीं किया; बल्कि आप (सल्ल॰) को अल्लाह ने क़ियामत तक के लिए और सारे संसार का रसूल बनाकर भेजा। आप (सल्ल॰) के द्वारा अल्लाह ने दीन (धर्म) को पूर्ण कर दिया। मार्गदर्शन की जो जीवनदायिनी निधि पिछले नबियों के द्वारा भेजी जाती रही है, पूर्ण कर दी गई। हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के पश्चात न किसी नवीन नुबूवत की आवश्यकता है और न आपके पश्चात कोई नया नबी आनेवाला है। अब सत्य-मार्ग पाने और शाश्वत-सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य आपका अनुसरण करे। जिसने आप (सल्ल॰) का इनकार किया उसके लिए संभव नहीं कि वह सही रास्ते को पा सके और दोनों लोक में सफल हो सके। आप (सल्ल॰) का इनकार वास्तव में पिछले सभी नबियों का इनकार है। इसलिए कि आप (सल्ल॰) उसी धर्म के आमंत्रणदाता हैं जिसका आमंत्रण पिछले नबियों ने दिया है। समस्त नबियों का सम्बन्ध एक ही गरोह से है।

रहा यह प्रश्न कि नबियों और रसूलों के द्वारा अल्लाह ने अपना सन्देश क्यों भेजा? जो अल्लाह रसूलों को अपनी इच्छा और अपने सन्देश की सूचना दे सकता था, वह सीधे (Directly) प्रत्येक व्यक्ति को मार्ग क्यों नहीं दिखाता? यह प्रश्न केवल दृष्टि की संकीर्णता के कारण ही किया जाता है। विश्व की वर्तमान व्यवस्था और मार्गदर्शन की इस रीति में कि अल्लाह

प्रत्यक्ष प्रत्येक व्यक्ति को सम्बोधित करे, कोई सम्पर्क नहीं है। रहस्मयता इस जगत् का सामान्य नियम (Genral Law) है। संसार की प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व को स्थिर रखने और अपने विकास के लिए हर क्षण ईश्वरीय अनुदान पर आश्रित है, परन्तु फिर भी बीच में कार्य-करण के इतने परदे डाले गए हैं कि वास्तविकता का प्रत्यक्ष निरीक्षण किसी के लिए संभव नहीं है। रहस्मयता के नियम से मनुष्य को अलग कर देने का अर्थ यह है कि रहस्यमयता की समस्त व्यवस्था निरर्थक हो जाए। इसलिए रिसालत और वह्य (दैवी प्रकाशन, Revealation) ही मार्गदर्शन का वह साधन है जो वर्तमान जगत् के अनुकूल है। रिसालत ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य को जीवन के स्पष्ट आदेश भी मिल सकते हैं और साथ-साथ रहस्यमयता का नियम भी शेष रह सकता है। इस छिपाव और रहस्यमयता से अभीष्ट वास्तव में मनुष्य की अन्तःप्रेरणा और उसके संकल्प आदि की परीक्षा है।

अल्लाह की किताब पर ईमान

अल्लाह ने अपने बन्दों के मार्गदर्शन के लिए अपने रसूलों पर किताबें उतारीं। अल्लाह की अन्तिम किताब 'कुरआन मजीद' है जो अल्लाह के अन्तिम रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) पर अवतरित हुआ है। क़ुरआन अपने शब्द और अर्थ दोनों पहलुओं से अल्लाह का 'कलाम' (वाणी) है। यह किताब अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की अपनी रचना कदापि नहीं है। रसूल का काम तो यह है कि वह एक अमानतदार की तरह उस किताब को जो अल्लाह की ओर से उसके दिल पर अवतीर्ण हुई है, अल्लाह के बन्दों तक पहुँचाए और अपनी ओर से उसमें कोई कमी-बेशी न करे। अल्लाह की दी हुई सूझ-बूझ से इस किताब की व्याख्या करे और अपनी शिक्षा और अपने चरित्र द्वारा लोगों के आचार-विचार को ठीक करे। उनके जीवन में क्रान्ति लाए और उन्हें एक उत्तम गरोह या समुदाय बनाए। एक ऐसा गरोह जिसके द्वारा संसार में भलाई फैले और बुराई समाप्त हो।

तौरात, इनजील, ज़बूर आदि अल्लाह की ओर से बहुत-सी किताबें अवतीर्ण हुईं, परन्तु उनमें से कितनी किताबें हैं जो बिलकुल लुप्त हो चुकी हैं। जो किताब आज पाई जाती हैं उनमें क़ुरआन के सिवा कोई किताब अपने वास्तविक शब्दों और अर्थों के साथ सुरक्षित नहीं है। उनमें अल्लाह के कलाम के साथ मानवीय कलाम भी सम्मिलित हो गया है। लोगों ने उनमें बहुत-सी बातें अपनी ओर से मिला दी हैं और कितनी ही बातों को लोगों ने बदलकर रख दिया है। अब यह निर्णय करना बहुत ही मुश्किल है कि उनमें कितना सत्य है और कितना असत्य। क़ुरआन की विशेषता यह है कि वह अपने उन्हीं शब्दों और अर्थों के साथ मौजूद है जिन शब्दों और अर्थों के साथ अल्लाह के अन्तिम रसूल ने उसे दुनिया के सामने प्रस्तुत किया था। इस किताब की भाषा आज भी संसार की एक जीवित भाषा है। इसकी भाषा को बोलने और समझनेवाले करोड़ों की संख्या में दुनिया में मौजूद हैं। यह

किताब दिव्य मार्गदर्शन का अन्तिम और नवीनतम संस्करण है जिसमें क़ियामत तक के लिए और संसार के सारे ही लोगों के मार्गदर्शन की सामग्री है। इस किताब के बाद किसी और किताब की आवश्यकता शेष नहीं रहती। सीधा मार्ग पाने और अल्लाह की इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी वे सभी बातें इस किताब 'क़ुरआन' में बयान कर दी गई हैं। इस किताब में वे समस्त विशेषताएँ पाई जाती हैं जो पिछली 'किताबों' और सहीफ़ों में अलग-अलग थीं। क़ुरआन को आचार-विचार सम्बन्धी दिशा-दर्शन और व्यावहारिक जीवन के लिए पूर्ण जीवन-व्यवस्था और ऐसे क़ानून की हैसियत प्राप्त है जिसका पालन करना प्रत्येक के लिए अनिवार्य है। जिसने इस किताब की उपेक्षा की उसने अपना सम्बन्ध वास्तविक जीवन-स्रोत से काट लिया।

क़ुरआन मनुष्य को जिस दीन (धर्म) की ओर आमंत्रित करता है वही मानव का वास्तविक और स्वाभाविक धर्म है। यही कारण है कि उसने लोगों को उनकी बुद्धि और सूझ-बूझ के मार्ग से आमंत्रित किया है। दूसरे शब्दों में उसने उनकी प्रकृति को आकर्षित किया है। उसने मानवीय प्रकृति में निहित तथ्यों से लोगों को परिचित किया है। उसने मानव को उसकी वास्तविक प्रकृति और उसकी माँग का स्मरण कराया है। इसी लिए वह अपने-आपको ज़िक्र व तबसिरा (अनुस्मारक व आँखें खोल देने की सामग्री) के नाम से प्रस्तुत करता है। फिर वह ज्ञान, विश्वास, चिन्तन और सोच-विचार के लिए ऐसी दृढ़ बुनियाद संचित करता है जिसे संदेह और शंका कभी हिला नहीं सकते। इस दृष्टि से वह हुदा और तिबयान (मार्गदर्शन व स्पष्टकर्त्ता), हक़ व बुरहान (सत्य व प्रमाण) है और हमारे लिए बसायर व नूर (अन्तरदृष्टियों की सामग्री व प्रकाश) है।

क़ुरआन जो अल्लाह की वह्य है इसी के द्वारा मनुष्य को वास्तविक जीवन प्राप्त होता है। यही हमारे शाश्वत जीवन का साधन है। इसके द्वारा हमें जीवन का सीधा और सुगम मार्ग मिलता है जो हमारे जीवन का रास्ता है। अल्लाह की वह्य वह पवित्र आहार है जिससे हमारा आत्मिक जीवन सम्बद्ध है। ईसा (अलैहि.) की किताब में है, "मनुष्य केवल रोटी से ही नहीं

जीता है, बल्कि वह परमेश्वर के मुख से निकलनेवाले एक शब्द से जीवित रहता है" (मत्ती, 4:4)। हज़रत ईसा (अलैहि॰) कहते हैं : "मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता किन्तु वह प्रभु के मुँह से निकले हुए प्रत्येक वचन से जीवित रहता है" (व्यवस्था विवरण 8:3)। हज़रत मसीह (अलैहि॰) की प्रार्थना है : "हमें प्रतिदिन हमारा दैनिक भोजन दिया कर" (लूक़ा 11:3)।

क़ुरआन में भी कहा गया है कि वह्य और मार्गदर्शन की हैसियत "रिज़्क़े-हसन" अर्थात अच्छी रोज़ी की है। सूरा हूद (11), आयत 88 में कहा गया है : "(शुऐब ने) कहा : ऐ मेरी जातिवालो! देखो तो, यदि मैं अपने रब की खुली दलील पर हूँ, और उसने मुझे (अपनी ओर से) 'रिज़्क़े-हसन' (अच्छी रोज़ी) प्रदान किया है (तो मैं कैसे तुम्हारी तुच्छ इच्छाओं का पालन कर सकता हूँ)।" इस रोज़ी से वंचित रह जाना बड़े दुर्भाग्य की बात है।

आख़िरत की धारणा

आख़िरत से अभिप्रेत वह जीवन है जो मृत्यु के पश्चात मनुष्यों को प्रदान किया जाएगा। वर्तमान लोक को अल्लाह नष्ट कर देगा और नए सिरे से एक स्थायी और उच्च श्रेणी के लोक का निर्माण किया जाएगा। मनुष्यों को पुनः जीवित करके उठाया और उनसे उनके कर्मों का हिसाब लिया जाएगा। उनके कर्म के अनुसार अल्लाह उनके अन्तिम परिणाम के बारे में निर्णय करेगा। आख़िरत की धारणा में उन बहुत-से प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है जो इस जीवन में मनुष्य के मन में उठते रहते हैं।

संसार में इसपर कम ही लोग विचार करते हैं कि यह संसार क्या है? इसका सृष्टिकर्त्ता कौन है? जीवन क्या है? इसका प्रारंभ कैसे हुआ? इस जीवन का वास्तविक उद्देश्य और अभिप्राय क्या है? इन प्रश्नों पर गहरे विचारक ही सोचते और चिन्तन करते हैं। परन्तु मृत्यु की घटना एक ऐसी घटना है जो सभी को चौंका देती है। हर व्यक्ति यह सोचने पर विवश होता है कि मृत्यु के पश्चात क्या होगा? यह अभिलाषा प्रत्येक को होती है कि क्या ही अच्छा होता यदि वह झाँककर देख सकता कि मृत्यु के उस पार क्या है? मरकर मनुष्य कहाँ जाता है और उस पार का लोक कैसा है? क्या मृत्यु के पश्चात् भी कोई जीवन है? या मृत्यु के पश्चात् मनुष्य सदैव के लिए मिट्टी में मिल जाता है? मनुष्य के मन में स्वभावतः उठनेवाले इन प्रश्नों के मानव-मस्तिष्क ने विभिन्न उत्तर दिए हैं। परन्तु यह एक वास्तविकता है कि आख़िरत की धारणा के रूप में इन प्रश्नों का जो उत्तर इस्लाम ने दिया है वही उत्तर सबसे अधिक दिल को लगता है। इस लोक में फैली हुई अल्लाह की निशानियों से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है। इसी धारणा की शिक्षा अल्लाह के सभी नबियों ने दी है।

यह मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है कि उसे ऐसा जीवन प्राप्त हो जो कभी समाप्त होनेवाला न हो। जिसमें हर प्रकार का सुख हो और किसी प्रकार के दुख का सामना न करना पड़े। मनुष्य एक ऐसी बहार का स्वप्न देखता है जो पतझड़ से मुक्त हो। मनुष्य की यह कामना वर्तमान जीवन में

पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ किसी व्यक्ति को शाश्वत जीवन प्राप्त नहीं है और न इसकी वर्तमान लोक में कोई संभावना पाई जाती है कि कोई सदैव जीवित रह सके। फिर इस जीवन में जहाँ सुख है, वहीं दुख भी है। स्वास्थ्य के साथ रोग और जवानी के साथ बुढ़ापे की मुसीबत भी लगी हुई है। किसी भी चीज़ को यहाँ स्थायित्व प्राप्त नहीं है। मनुष्य की इच्छाएँ यदि पूरी हो सकती हैं और उसके स्वप्न साकार हो सकते हैं तो वह किसी ऐसे जीवन में सिद्ध हो सकते हैं जो इसके पश्चात आनेवाला हो।

एक और पहलू से विचार कीजिए। इस संसार में मनुष्य यदि न्याय करता है तो बहुत-से ऐसे लोग भी होते हैं जिनका मानो व्यवसाय ही यह है कि वे संसार को अन्याय और अत्याचार से भर दें। फिर इसके साथ बहुधा ऐसा भी होता है कि अत्याचारी व्यक्ति संसार में सुख और चैन से जीवन व्यतीत करता है और सच्चाई के रास्ते पर चलनेवाला व्यक्ति मुसीबत और दुख से ग्रस्त होता है। न्याय की बात यह है कि ज़ालिम को उसके अत्याचार की सज़ा मिले और सत्य पर चलनेवाले को उसकी सेवाओं का पूरा-पूरा बदला दिया जाए। न्याय की यह माँग उसी समय पूरी हो सकती है जबकि यह मान लिया जाए कि इस जीवन के पश्चात् भी कोई जीवन है जिसमें हर एक को उसके कर्मों का पूरा-पूरा बदला दिया जाए।

मनुष्य की यह कामना भी आख़िरत के जीवन में ही पूरी हो सकती है कि वह उन वास्तविकताओं को जान ले जिनका निरीक्षण इस संसार में संभव नहीं। वे वास्तविकताएँ जिनपर आज परोक्ष का आवरण पड़ा हुआ है आख़िरत ही में अनावृत हो सकेंगी।

वह अल्लाह जो विशाल विश्व का निर्माता है, जिसने हमें इस संसार में जीवन प्रदान किया, उसके लिए यह कुछ भी मुश्किल काम नहीं है कि वह इस वर्तमान विश्व को अस्त-व्यस्त करके नए सिरे से एक दूसरे जगत् का निर्माण करे और मृत्यु के पश्चात् मनुष्यों को दोबारा जीवन प्रदान करे। जिस अल्लाह की दयालुता और न्याय पर वर्तमान विश्व की व्यवस्था क़ायम है उसकी दयालुता और न्याय ही की माँग है कि इस संसार के पश्चात् वह एक दूसरे जगत् की रचना करे और इस जीवन के पश्चात् मनुष्यों को एक

नया जीवन प्रदान करे। इसलिए अल्लाह इस जगत् के नष्ट-भ्रष्ट होने के पश्चात् एक दूसरे जगत् का निर्माण अवश्य करेगा और मनुष्यों को उनकी मृत्यु के पश्चात् दोबारा जीवन प्रदान करेगा। लोगों के अन्तिम परिणाम का निर्णय उनके कर्म के अनुसार करेगा। अच्छे लोग जन्नत में दाख़िल होंगे जहाँ उनके लिए वह सुख और आनन्द है जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। बुरे लोगों का ठिकाना जहन्नम होगा। जहन्नम यातनाओं का घर है, जहाँ किसी प्रकार की शान्ति नहीं।

आख़िरत सम्बन्धी धारणा की समस्या केवल एक दार्शनिक समस्या नहीं है। इस धारणा का मनुष्य के नैतिक एवं व्यावहारिक जीवन से गहरा सम्बन्ध है। आख़िरत को मानने के पश्चात् मनुष्य अवश्य ही अपने-आपको अल्लाह के सामने उत्तरदायी समझेगा। वह संसार में यह समझते हुए सारे काम करेगा कि एक दिन उसे अल्लाह के यहाँ अपने कामों का हिसाब देना है। उसके अपने कर्मों पर ही उसके भविष्य की सफलता अथवा असफलता अवलम्बित है। आख़िरत को माननेवाला कभी भी न्याय और सच्चाई की उपेक्षा नहीं कर सकता, भले ही इस कारण संसार में उसे हानि ही हो। इसलिए कि वह जानता है कि आख़िरत का लाभ ही वास्तविक लाभ है और आख़िरत की हानि ही वास्तविक हानि है। सांसारिक जीवन अस्थायी और नाशवान है और आख़िरत का जीवन इससे उत्तम और स्थायी है। इसलिए वह दुनिया पर आख़िरत को प्राथमिकता देगा। उसकी दृष्टि में यह बड़ी ही नादानी की बात है कि मनुष्य सांसारिक सुख के लिए अपनी आख़िरत को तबाह होने दे। इसके विपरीत जो व्यक्ति आख़िरत को नहीं मानता, जिसे किसी आनेवाले जीवन के बनने-बिगड़ने की आशंका नहीं है, वह बस इसी सांसारिक जीवन के लाभ-हानि को अपने सामने रखेगा। वह आग में हाथ डालने से तो अवश्य बचेगा, इसलिए कि वह जानता है कि आग उसके हाथ को जला देगी, परन्तु झूठ, अन्याय, विश्वासघात, धोखा, वचन-भंग, ज़िना, निर्लज्जता, कुकर्म और ऐसे ही दूसरे उन कर्मों से बचना उसके लिए मुश्किल है जिनका फल पूर्ण रूप से वर्तमान जीवन में सामने नहीं आता।

अध्याय–2

इबादतें और अध्यात्म

इस्लामी इबादतें

मनुष्य को सदैव एक ऐसे इष्ट आराध्य की खोज रही है जिसे वह अपना जीवनोद्देश्य और अपनी अभिलाषाओं और कामनाओं का केन्द्र बना सके और जिसके आगे वह अपने विनय एवं दास्य-भावों का प्रदर्शन कर सके। आराध्य की तलाश और खोज में मनुष्य ने तरह-तरह की ठोकरें खाईं और वह विभिन्न प्रकार की धारणा सम्बन्धी और व्यावहारिक गुमराहियों में पड़ता रहा, लेकिन फिर भी वह कभी भी अपने दास्य-भाव और अपने अन्दर पाई जानेवाली अस्पष्ट विकलता एवं वेदना को, जो एक उपास्य एवं आराध्य को पा लेने के बाद ही दूर हो सकती थी, विनष्ट न कर सका। अल्लाह के नबियों ने सदा मनुष्य को सही मार्ग दिखाया। उन्होंने बताया कि मनुष्य का उपास्य या आराध्य केवल अल्लाह है जो इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता और रब है। प्रत्येक नबी का सन्देश यही था—

> "ऐ मेरी जातिवालो! अल्लाह की इबादत करो उसके सिवा तुम्हारा कोई इलाह (आराध्य) नहीं।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-59)

अल्लाह के अन्तिम रसूल (सल्ल॰) ने भी संसार को यही आमंत्रण दिया—

> "ऐ लोगो! अपने रब की इबादत करो।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-21)

क़ुरआन मजीद ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि इबादत ही मानव-सृष्टि का वास्तविक अभिप्राय है। जो जीवन अल्लाह का आज्ञापालक और 'इबादत' न बन सका, वह नष्ट हो गया।

> "मैंने जिन्नों और मनुष्यों को केवल इसलिए पैदा किया है कि वे मेरी इबादत करें।" (क़ुरआन, सूरा-51 ज़ारियात, आयत-56)

इबादत शब्द अपने अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक है। इबादत का

मूल अर्थ है विनयशीलता, अन्तिम हद तक झुक जाना, बिछ जाना। फिर इसमें प्रेम, पूजा, आज्ञापालन और दासता का भाव भी सम्मिलित है। इस्लाम में इबादत का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है। अल्लाह की इबादत का अर्थ यह है कि मनुष्य केवल अल्लाह का उपासक हो, उसी के आगे सिर झुकाए, उसी को सजदा करे, अपनी सूक्ष्म एवं पवित्रतम भावनाओं को उसी की सेवा में प्रस्तुत करे और अपना सम्पूर्ण जीवन उसी की बन्दगी और आज्ञापालन में व्यतीत करे। जीवन के किसी क्षेत्र को भी अल्लाह की बन्दगी से स्वतंत्र न रखे; जीवन के प्रत्येक मामले में अल्लाह ही का आज्ञाकारी हो। राजनीति, समाज, अर्थ आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अल्लाह के दिए हुए आदेशों का पालन करे। यहाँ तक कि उसका खाना-पीना, लोगों से मिलना-जुलना, सोना-जागना सब कुछ अल्लाह के आदेश और उसकी इच्छानुसार हो। इस तरह पूरे दीन (धर्म) का पालन इबादत में सम्मिलित है। किसी कर्त्तव्यपालन के विषय में भी हम यह नहीं कह सकते कि वह इबादत में सम्मिलित नहीं है।

धार्मिक व्यवस्था में इस्लाम के अरकान (मौलिक स्तम्भों) नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात को बड़ा महत्त्व है। इन अरकान का सम्बन्ध अपने बाह्य और आन्तरिक दोनों ही दृष्टि से प्रत्यक्षतः अल्लाह से है। मनुष्य में दास्य भाव को जाग्रत करने और बन्दगी की भावना पैदा करने में इस्लाम के अरकान का बड़ा भाग है। इनको दीन (धर्म) में एक विशेष स्थान प्राप्त है। इन्हीं पर वास्तव में दीन (धर्म) का सम्पूर्ण भवन खड़ा होता है। ये मानो ऐसी विशेष इबादतें हैं जिनके द्वारा मनुष्य में वह शक्ति आती है जिससे वह अपना सम्पूर्ण जीवन अल्लाह की बन्दगी और इबादत में व्यतीत कर सके। यही कारण है कि साधारणतया नमाज़, ज़कात, रोज़ा, हज ही को इबादत कह दिया जाता है, हालाँकि वास्तव में दीन (धर्म) की कोई चीज़ भी इबादत से अलग नहीं है।

इबादत केवल अल्लाह (ईश्वर) का हक़ है। अल्लाह के सिवा किसी दूसरे की इबादत करना शिर्क है। शिर्क के मानी अल्लाह के सिवा किसी दूसरे की पूजा या उपासना करना है। शिर्क और अल्लाह के अलावा दूसरे

की उपासना को प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मनुष्य का पतन कहा गया है। क़ुरआन में कहा गया है–

"जो कोई अल्लाह के साथ शिर्क करे तो मानो वह आकाश से गिर पड़ा फिर चाहे उसको पक्षी उचक ले जाएँ या हवा उसे दूरवर्ती स्थान पर (ले जाकर) फेंक दे।"

(क़ुरआन, सूरा-22 हज, आयत-31)

इस्लाम जीवन की पूर्णता का एक मात्र मार्ग है। इसी के द्वारा प्राकृतिक अभिप्राय तक हमारी पहुँच हो सकती है। अल्लाह की दयालुता के चिह्न धरती से आकाश तक फैले हुए हैं। अल्लाह अपने अनुग्रह और दयालुता का विस्तार हमारे संकल्प और अधिकार-क्षेत्र तक करना चाहता है। वह हमें जीवन के नियमों की शिक्षा देता है। हमारे जीवन को निर्मलता एवं उच्चता प्रदान करना चाहता है। अल्लाह के सिवा कोई नहीं जिससे इस विशेष अनुग्रह की आशा की जाए–

"उनसे कहो कि क्या उनमें, जिन्हें तुम अल्लाह के साथ शरीक ठहराते हो, कोई ऐसा भी है जो हक़ की ओर मार्ग दिखा सके? कहो : हक़ (सच्चाई) की ओर तो अल्लाह ही मार्ग दिखा सकता है।" (क़ुरआन, सूरा-10 यूनुस, आयत-35)

अल्लाह के आज्ञापालन और इबादत के बिना मानव-जीवन का पूर्ण होना सम्भव नहीं है। अल्लाह की बन्दगी और इबादत के बिना जीवन वास्तविक अभिप्राय एवं आशय से वंचित ही रह जाता है।

नमाज़

मनुष्य अल्लाह का बन्दा और दास है। अल्लाह ही उसका सृष्टिकर्त्ता, रब और इलाह (पूज्य) है। अल्लाह को अपना रब (पूज्य) मानने का अर्थ यह होता है कि बन्दा अपना जीवन अल्लाह के आज्ञापालन और बन्दगी में व्यतीत करे। उसके दिए हुए आदेश को अपने जीवन का क़ानून बनाए। उसी के आगे सिर झुकाए, उसी के आगे सजदा करे। उसके सिवा किसी की उपासना न करे। नमाज़ वास्तव में अल्लाह की इबादत और उसकी उपासना का सर्वांग रूप है। नमाज़ में बन्दा बार-बार अल्लाह के सामने हाज़िर होता है और उसके आगे अपनी दीनता, विनम्रता और दासता का प्रदर्शन करता है। उसके दिखाए हुए मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा करता है। उससे अपने गुनाहों और कोताहियों के लिए क्षमा चाहता है।

अल्लाह और उसके बन्दों के हक़ को पहचानना और उन्हें अदा करना यही धर्म का सारांश है। नमाज़ और ज़कात इस्लाम के दो ऐसे मौलिक आधार स्तम्भ हैं जो इन दोनों हक़ों के रक्षक और मनुष्य को सीधे रास्ते पर क़ायम रखनेवाले हैं। नमाज़ अपनी वास्तविकता की दृष्टि से एक चेतना सम्बन्धी कर्म है। नमाज़ वास्तव में भय और प्रेम और विनीत भाव के साथ अल्लाह की ओर आकृष्ट होने और उससे निकट होने का नाम है। नमाज़ में बन्दे को अल्लाह से वार्तालाप का श्रेय प्राप्त होता है। नमाज़ हमारी चेतना की प्रथम देन है। नमाज़ वास्तव में अपने दिल, ज़बान और शरीर के द्वारा अपने रब के सामने अपनी बन्दगी, दासता और उसकी बड़ाई और महानता का प्रदर्शन है। नमाज़ अल्लाह की याद, उसके उपकारों के प्रति आभार प्रदर्शन, आदि-सौन्दर्य की प्रशंसा (हम्द) और गुणगान (तसबीह) है। यह हृदय-वीणा की झंकार, विकल आत्मा की सांत्वना, प्रकृति की पुकार और हमारे जीवन का सारांश है।

शाह वलीउल्लाह (रह॰) ने नमाज़ की वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"जानना चाहिए कि नमाज़ में तीन चीज़ें मौलिक हैं। दिल से अल्लाह के लिए विनम्र और विनयशील होना, ज़बान से अल्लाह को स्मरण करना और अपने शरीर से अल्लाह की अधिक-से-अधिक प्रतिष्ठा करना।" (हुज्जतुल्लाहिल-बालिग़ा, भाग-2)

अत्यन्त प्रेम जिनमें अधिक-से-अधिक विनम्रता एवं विनयशीलता हो अल्लाह के सिवा किसी के साथ जाइज़ नहीं है। यह केवल अल्लाह का हक़ है कि मनुष्य अपने-आपको उसके आगे बिलकुल झुका दे और अपनी समस्त भावनाओं एवं आन्तरिक भावों को उसकी सेवा में प्रस्तुत कर दे। कभी-कभी नबी (सल्ल॰) नमाज़ में रो पड़ते थे, आँखों से आँसू बहने लगते थे। एक सहाबी कहते हैं कि मैंने नबी (सल्ल॰) को देखा कि आप नमाज़ में हैं, आँखों से आँसू बह रहे हैं, रोते-रोते हिचकियाँ बँध गई हैं। ऐसा लगता था मानो चक्की चल रही है। या हाँडी उबल रही है। (हदीस : तिरमिज़ी, अबू-दाऊद)

नमाज़ एक विश्वव्यापी वास्तविकता है। नमाज़ न केवल मनुष्य की बल्कि समस्त सृष्टि की प्रकृति एवं स्वभाव है। नमाज़ के बिना किसी चीज़ के अस्तित्व और उसके बाक़ी रहने की कल्पना नहीं की जा सकती। क़ुरआन का बयान है कि सम्पूर्ण विश्व अल्लाह की तसबीह (गुणगान) में लगा हुआ है–

"क्या तुमने नहीं देखा कि आकाशों और धरती में जो भी है अल्लाह की तसबीह करता है, पंख फैलाए पक्षी भी (उसकी तसबीह करते हैं)। हर एक अपनी नमाज़ और तसबीह से परिचित है, और अल्लाह जानता है जो कुछ वे करते हैं।

(क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-41)

क़ुरआन में नमाज़ के लिए सलात शब्द प्रयुक्त हुआ है। अरबी में 'सलात' का अर्थ है : किसी चीज़ की ओर बढ़ना और उसमें प्रवेश करना। 'सलात' में अत्यन्त सामीप्य का भाव पाया जाता है। नमाज़ पूर्ण अभिरुचि के साथ अल्लाह की ओर आकृष्ट होने का प्रिय कर्म है। अल्लाह की ओर मन का झुकाव ही नमाज़ की वास्तविक आत्मा है। इसी को अरबी में

इबादत कहा जाता है। इबादत का अर्थ है पूरे दिल से अल्लाह से प्रेम करना और उसकी ओर ध्यान देना। अल्लाह के लिए एक स्वाभाविक प्यास और अभिलाषा प्रत्येक हृदय में पाई जाती है। मनुष्य जिस प्रकार रोज़ी प्राप्त करने में अल्लाह की कृपा का मुहताज है उससे कहीं अधिक वास्तविक शान्ति और परितोष के लिए उसे अल्लाह की इबादत और उसकी उपासना की आवश्यकता है। नमाज़ बन्दे और अल्लाह के बीच सम्बन्ध एवं सम्पर्क स्थापित करने का वास्तविक साधन है। नमाज़ के माध्यम से मनुष्य को अल्लाह की सेवा में पहुँच प्राप्त होती है और उसकी अन्तिम अभिलाषा पूरी होती है। नमाज़ में उसे इसका अवसर मिलता है कि वह अपने सूक्ष्मतम एवं पवित्रतम आन्तरिक भावों को अल्लाह की सेवा में प्रस्तुत करे और उससे कृपाओं का इच्छुक हो। नबी (सल्ल०) कहते हैं—"मेरी आँख की ठण्डक नमाज़ में है।" नमाज़ से लगाव इस बात की पहचान है कि बन्दे ने अल्लाह को अपनी सारी आशाओं और कामनाओं का केन्द्र बना लिया। ऐसा व्यक्ति अल्लाह का समीपवर्ती होता है। अतएव ऐसे व्यक्ति को जिसका मन मस्जिद से निकलने के बाद भी मस्जिद में लगा रहता है, इस बात की शुभ सूचना दी गई है कि अल्लाह उसे अपनी छाया में जगह देगा।

अपने जीवन में नमाज़ को सम्मिलित करना वास्तव में अल्लाह को अपना संरक्षक बनाना है। नबी (सल्ल०) कहते हैं : "जिसने जान-बूझकर नमाज़ छोड़ दी, अल्लाह उसकी रक्षा से हाथ उठा लेता है।" जो अल्लाह के संरक्षण से वंचित हो जाए उसे विनाश और तबाही से कौन बचा सकता है! नमाज़ अपने महत्व के कारण किसी समय भी छोड़ी नहीं जा सकती। यदि कोई खड़ा होकर नमाज़ नहीं अदा कर सकता तो बैठकर अदा करे और यदि यह भी सम्भव न हो तो लेटकर ही अदा करे। यदि मुँह से न बोल सके तो संकेतों से ही अदा करे। (हदीस : दारक़ुतनी) और यदि विवशता के कारण रुककर अदा न कर सकता हो तो चलते हुए अदा करे (हदीस : अबू-दाऊद), और यदि अत्यन्त भय की दशा में सवारी पर है तो जिस तरफ़ मौक़ा हो तो उसी तरफ़ मुँह करके अदा करे। (हदीस : बुख़ारी)

फिर नमाज़ को उन्हीं प्राचीन और स्वाभाविक रीति के साथ अदा करने

का आदेश है जो हज़रत इबराहीम (अलै.) के समय से चली आ रही है। इनसाइक्लोपीडिया के संकलनकर्त्ताओं ने भी इसे स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

"इस्लामी नमाज़ अपने तरकीब में बड़ी हद तक यहूदियों और ईसाइयों की नमाज़ के अनुरूप है।"

(भाग 4, पृ. 96, विषयः सलात)

नमाज़ पाँच बार अदा करनी अनिवार्य है। इस तरह हमारे पूरे समय को नमाज़ से घेर दिया गया है, ताकि हम अल्लाह से किसी समय भी ग़ाफ़िल न हों और हमारा सम्पूर्ण जीवन अल्लाह की याद बन जाए। क़ुरआन में कहा गया है—

"मेरी याद के लिए नमाज़ क़ायम करो।"

(क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-14)

फिर क़ुरआन को भी नमाज़ का एक आवश्यक अंग ठहरा दिया गया है। सूरा फ़ातिहा नमाज़ की प्रत्येक रक्अत में पढ़ी जाती है। सूरा फ़ातिहा पूरे क़ुरआन का सारांश है। नमाज़ में क़ुरआन को सम्मिलित करके क़ुरआन की हिक्मत (तत्वदर्शिता), प्रकाश और उसकी बरकतों को भी नमाज़ में समेट लिया गया है। क़ुरआन के आदेशों की याददिहानी भी नमाज़ में होती रहती है।

नमाज़, क़ियामत में अल्लाह की सेवा में खड़े होने का चित्र भी है। जब बन्दा नमाज़ में खड़ा होता है तो वह उस दिन को याद करता है जब वह आख़िरत में अल्लाह के सामने हाज़िर होगा। नमाज़ में हम अल्लाह की ओर लपकते और पंक्तिबद्ध होकर उसकी प्रशंसा करते हैं। हश्र के दिन भी हमारा यही हाल होगा। उस दिन अल्लाह हमें पुकारेगा तो हम उसकी प्रशंसा करते हुए क़ब्रों से निकलकर उसकी ओर दौड़ पड़ेंगे।

(क़ुरआन, सूरा-17 बनी इसराईल, आयत-52)

सत्य-मार्ग में असत्य से लड़ना और इसके लिए हर समय तैयार रहना मुसलमान का कर्तव्य है। नमाज़ इस तैयारी का नक़्शा भी पेश करती है।

रिवायत में आता है कि अल्लाह को दो पंक्तियाँ बहुत प्रिय हैं। एक नमाज़ की पंक्ति और दूसरे जिहाद के क्षेत्र में मुजाहिदों की पंक्ति। नमाज़ और जिहाद में कुछ पहलुओं से अनुरूपता भी पाई जाती है। अबू-दाऊद की हदीस है–

> "नबी (सल्ल.) और आपके सेनादल जब पहाड़ों पर चढ़ते तो अल्लाह की बड़ाई का वर्णन करते और जब नीचे उतरते तो अल्लाह का गुणगान और उसकी महानता का वर्णन करते थे। नमाज़ इसी तरीक़े पर क़ायम की गई।"

नमाज़ में नमाज़ियों का पंक्तिबद्ध होना, एक इमाम का अनुवर्तन, एक आवाज़ पर समस्त पंक्ति की हरकत से युद्ध ही के नियमों की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियमों की सीख मिलती है। नमाज़ से जहाँ उस सम्बन्ध का प्रदर्शन होता है जो बन्दे और अल्लाह के बीच पाया जाता है, वहीं नमाज़ से अल्लाह के बन्दों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी सामाजिकता पर भी प्रकाश पड़ता है। यह सामाजिकता ही की माँग थी कि हमें जमाअत (सामूहिक रूप) से नमाज़ पढ़ने का आदेश दिया गया। नमाज़ हमें अल्लाह से ही नहीं मिलाती बल्कि यह हमारे आपस के सम्बन्धों को ठीक रखती है और हमारे दिलों को जोड़ती है, लेकिन शर्त यह है कि हमारी नमाज़ वास्तव में नमाज़ हो और वह अपने बाह्य और आन्तरिक प्रत्येक पहलू से ठीक हो। मुस्लिम (हदीस) में है–

> "अल्लाह के बन्दो! (नमाज़ में) अपनी सफ़ों (पंक्तियों) को सीधा और ठीक रखो अन्यथा अल्लाह तुम्हारे रुख़ को एक-दूसरे के विरुद्ध कर देगा।"

नमाज़ इस्लाम की उन समस्त धारणाओं को जाग्रत करती है जिनपर ईमान लाए बिना आत्मा की शुद्धता, आचरण की पवित्रता और व्यावहारिक जीवन का सुधार सम्भव नहीं है। धैर्य, अल्लाह पर भरोसा और शुद्धता और आत्मा की पवित्रता आदि नैतिक गुणों की प्राप्ति का उत्तम साधन नमाज़ है। नमाज़ में मनुष्य को सदाचार और धर्मपरायण बनाने की अपार शक्ति मौजूद

है। नमाज़ हमें साहसी और उदार बनाती है और एक पवित्रतम और आनन्दमय जीवन का हमें मार्ग दिखाती है। अल्लाह कहता है—

"निस्सन्देह नमाज़ अश्लीलता और बुराई से रोकती है।"

(क़ुरआन, सूरा-29 अनकबूत, आयत-45)

नमाज़ वास्तव में धर्म का एक ऐसा शीर्षक है जिसमें अत्यन्त व्यापकता पाई जाती है। नमाज़ मुस्लिम-जीवन का आदि और अन्त सब कुछ है। नमाज़ मुस्लिम के नैतिक, आध्यात्मिक और वास्तविक जीवन का प्रतीक है। नमाज़ की इसी मौलिक विशेषता के कारण क़ुरआन सभी अच्छे कर्मों में केवल नमाज़ का नाम लेने को काफ़ी समझता है। एक जगह कहा गया है—

"जो लोग किताब को मज़बूती से पकड़े हुए हैं और जिन्होंने नमाज़ क़ायम कर रखी है, निश्चय ही हम ऐसे सुधार करनेवालों के कर्म-फल को नष्ट नहीं करेंगे।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-170)

एक जगह अल्लाह के विरोधी और सरकश बन्दे का ज़िक्र इन शब्दों में किया गया है—

"उसने न तो (अल्लाह और रसूल की) तसदीक़ की और न नमाज़ अदा की, बल्कि उसने झुठलाया और मुँह मोड़ा।"

(क़ुरआन, सूरा-75 क़ियामह, आयतें-31-32)

नमाज़ की इसी मौलिक विशेषता के कारण नबी (सल्ल०) कहते हैं—

"दीन (धर्म) में नमाज़ का वही स्थान है जो शरीर में सिर का है।"

(अल-मोअजमुस्सग़ीर तिबरानी, इब्ने उमर (रज़ि०) द्वारा)

हज़रत अबू मूसा अशअरी (रज़ि०) कहते हैं कि एक व्यक्ति को नबी (सल्ल०) ने नमाज़ पढ़ते देखा जो न पूरा रुकूअ् करता था और न पूरा सजदा करता था। उसकी जल्दबाज़ी को देखकर आप (सल्ल०) ने कहा—

"यदि वह व्यक्ति इसी हालत में मर गया और अपनी नमाज़ दुरुस्त न की तो मुहम्मद के पन्थ के अतिरिक्त किसी और पन्थ

पर उसका अन्त होगा।"

नमाज़ के इसी महत्व के कारण हज़रत उमर (रज़ि॰) ने अपने गवर्नरों को लिखा था–

"तुम्हारे समस्त कर्मों में सबसे बढ़कर महत्व मेरी दृष्टि में नमाज़ का है। जिस किसी ने इसकी रक्षा की और निगहबानी में लगा रहा उसने पूरे धर्म की रक्षा की, और जिसने नमाज़ को खो दिया वह दूसरी सारी चीज़ों को और अधिक खोनेवाला होगा।"

सारांश यह कि नमाज़ को मुस्लिम-जीवन में मौलिक स्थान प्राप्त है। नमाज़ से केवल यही नहीं कि हमारे जीवन का सुधार होता है, बल्कि नमाज़ हमें वास्तविक जीवन से परिचित कराती और ईश्वर से हमारा सम्बन्ध दृढ़ करती है।

ज़कात

अल्लाह के बाद हमपर उसके बन्दों का हक़ है। दीन या धर्म वास्तव में अल्लाह और उसके बन्दों के हक़ को अदा करने का ही दूसरा नाम है। नमाज़ और ज़कात हमें इन्हीं दोनों प्रकार के हक़ की याद दिलाते हैं। मौलाना हमीदुद्दीन फ़राही, जिन्हें क़ुरआन का विशेषज्ञ माना जाता था, लिखते हैं—

> "नमाज़ की वास्तविकता बन्दे का अपने रब की ओर प्रेम और भय से झुकना है और ज़कात की वास्तविकता बन्दे का बन्दे की ओर प्रेम और ममत्व भाव से प्रवृत्त होना है।"
>
> (तफ़सीर निज़ामुल-क़ुरआन, पृष्ठ 9)

दीन (धर्म) के इस मौलिक तथ्य की ओर क़ुरआन में विभिन्न स्थानों पर संकेत किया गया है। तौरात और इनजील में भी इस मौलिक तथ्य पर प्रकाश डाला गया है।[1] क़ुरआन नमाज़ और ज़कात को विशेष महत्व देते हुए इनको धर्म का मूल निर्धारित करता है—

> "और उन्हें हुक्म इसी का तो दिया गया था कि अल्लाह की इबादत करें दिल को उसी के लिए ख़ालिस करके, एकाग्र होकर, और नमाज़ क़ायम करें और ज़कात दें, और यह है ठोस और सही दीन (धर्म)।" (क़ुरआन, सूरा-98 बय्यिनह, आयत-5)

---

1. और उनमें से एक व्यवस्था के आचार्य ने येशु की परीक्षा लेने के लिए उनसे पूछा, "गुरुवरा व्यवस्था-ग्रन्थ में सबसे बड़ी आज्ञा कौन-सी है?" येशु ने उससे कहा, "अपने प्रभु परमेश्वर को अपने सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण प्राण और सम्पूर्ण बुद्धि से प्रेम करो। यह सबसे बड़ी और पहली आज्ञा है। दूसरी आज्ञा इसी के सदृश है : अपने पड़ोसी को अपने समान प्रेम करो। इन्हीं दो आज्ञाओं पर समस्त व्यवस्था और नबियों की शिक्षा अवलम्बित है। (मत्ती 22:35 से 40)
   हमारा प्रभु परमेश्वर एकमात्र प्रभु है। अपने प्रभु परमेश्वर को अपने सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण बुद्धि और सम्पूर्ण शक्ति से प्रेम करो। दूसरी आज्ञा यह है अपने पड़ोसी को अपने समान प्रेम करो। इनसे बड़ी कोई आज्ञा नहीं। (मरक़ुस 12:28)

दीन वास्तव में अल्लाह और उसके बन्दों दोनों के हक़ के अदा करने का नाम है। इसकी पुष्टि हदीस से भी होती है। उदाहरणार्थ यहाँ एक हदीस प्रस्तुत की जाती है–

"हज़रत इब्ने अब्बास (रज़ि॰) से उल्लिखित है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने कहा : तीन व्यक्ति ऐसे हैं कि उनकी नमाज़ उनके सिर से एक बालिश्त भी ऊपर नहीं उठती—एक वह इमाम जिसको लोग नापसन्द करते हों, दूसरे वह स्त्री जिसने रात इस तरह गुज़ारी कि उसका पति उससे रुष्ठ हो और तीसरे वे दो भाई जो परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लें।"

इस हदीस से ज्ञात हुआ कि बन्दे के लिए आवश्यक है कि वह अल्लाह और उसके बन्दों दोनों के हक़ पहचाने और अदा करे। अल्लाह का हक़ भी वास्तव में उस समय तक अदा नहीं हो सकता जब तक कि कोई अल्लाह के बन्दों के हक़ अदा न करे।

ज़कात अदा करके मनुष्य केवल एक कर्त्तव्य के पालन से ही निवृत्त नहीं होता, बल्कि इससे उसके व्यक्तित्व को भी पूर्णता प्राप्त होती है। पूर्णता, विकास एवं निर्माल्य ही शरीअत के (और व्यवहार सम्बन्धी) आदेशों का मौलिक उद्देश्य है। जिस चीज़ का नाम दीन (धर्म) में हिक्मत (Wisdom) है वह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कि ज्ञान और अन्तर्दृष्टि के साथ मनुष्य की आत्मा का विकास और शुद्धिकरण हो। ज़कात का वास्तविक उद्देश्य ही यह है कि उससे मनुष्य की आत्मा शुद्ध और विकसित हो। ज़कात का अर्थ है पवित्रता और विकास। ज़कात देने से आदमी स्वार्थपरता, तंगदिली और धन के लोभ से छुटकारा पाता है। उसकी आत्मा को शुद्धता एवं विकास प्राप्त होता है। अतएव क़ुरआन में कहा गया है–

> "और उस (जहन्नम) से बचा लिया जाएगा वह व्यक्ति जो अल्लाह का बड़ा डर रखनेवाला है जो अपना माल दूसरों को देता है कि अपने को निखारे।" (क़ुरआन, सूरा-92 लैल, आयतें-17-18)

एक दूसरी जगह नबी (सल्ल॰) को सम्बोधित करते हुए कहा गया है–

> "उनके मालों में से सदक़ा लो जिसके द्वारा उन्हें शुद्ध करोगे और

उन (की आत्मा) को विकसित करोगे।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

ज़कात का यह मौलिक उद्देश्य उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि ज़कात देने के साथ-साथ इस उद्देश्य की प्राप्ति की सच्ची तलब भी पाई जाती हो। आदमी ज़कात केवल अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए दे। इसके पीछे कोई और ध्येय काम न कर रहा हो। उसकी ज़कात न दिखाने के लिए हो और न उसका उद्देश्य दीन-दुखियों को एहसान जताकर दुख पहुँचाने के लिए हो।

क़ुरआन में यह बात बार-बार कही गई है कि आदमी का दीन (धर्म) और उसका ईमान उसी समय पूर्ण होगा और उसे वास्तविक और आध्यात्मिक जीवन उसी समय प्राप्त होगा जबकि अल्लाह का प्रेम सबसे बढ़कर हो और संसार की अपेक्षा मनुष्य आख़िरत को प्राथमिकता देने लग जाए। नमाज़ यदि मनुष्य का नाता अल्लाह से जोड़ती है तो ज़कात उसे सांसारिक और धन सम्बन्धी लोभ और मोह को उसके मन से निकालती है। 'ज़कात' देकर मनुष्य इस बात का प्रमाण संचित करता है कि वह जीवन के वास्तविक उद्देश्य से बेख़बर नहीं है। उसके पास जो कुछ है उसे वह अल्लाह ही की सम्पत्ति समझता है। वह उसमें से ग़रीबों और मुहताजों का भी हक़ निकालता है और अल्लाह ही के हुक्म से वह उसे प्रयोग में भी लाता है। अल्लाह का डर रखनेवालों की यह विशेष पहचान है कि वे अपने माल की ज़कात अदा करते हैं। उनके बारे में कहा गया है—

"तो मैं अपनी दयालुता उन लोगों के लिए लिख दूँगा जो डर रखते हैं और ज़कात देते हैं और हमारी आयतों पर ईमान रखते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-156)

ज़कात अदा करने से मनुष्य की आत्मा भी शुद्ध होती है और उसका माल भी शुद्ध हो जाता है। लेकिन यदि वह इतना बड़ा स्वार्थी है कि वह अल्लाह के प्रदान किए हुए धन में से अल्लाह का हक़ अदा नहीं करता, तो उसका माल भी अशुद्ध रहता है और उसकी आत्मा भी अशुद्ध रहती है।

आत्मा के लिए संकीर्णता, कृतघ्नता और स्वार्थपरता से बढ़कर घुटन और अशुद्धता की बात और क्या हो सकती है? ज़कात उन लोगों की समस्या का हल है जो मुहताज हैं। मुसलमानों का कर्त्तव्य है कि वे अपने भाई की सहायता करें। कोई भाई नंगा, भूखा और अपमानित न होने पाए। ऐसा न हो कि जो धनवान हैं वे तो अपने भोग-विलास में पड़े रहें और समुदाय के यतीमों, मुहताजों और विधवा स्त्रियों की ख़बर लेनेवाला कोई न हो। उन्हें यह बात महसूस करनी चाहिए कि उनके धन में दूसरों का भी हक़ है। उसमें उन लोगों का भी हक़ है जो योग्य होते हुए भी निर्धनता के कारण कोई कार्य नहीं कर सकते। उनके धन में उन ग़रीब बच्चों का भी हक़ है जो ग़रीबी के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते और उनके धन में उन कमज़ोर और विवश लोगों का भी हक़ है जो किसी कार्य के योग्य नहीं हैं।

फिर जो धन भी समुदाय और समाज के हित के लिए व्यय किया जाता है वह नष्ट नहीं होता। जो रुपया भी सामूहिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए व्यय किया जाता है वह अगणित लाभ का कारण बनता है जिनसे स्वयं व्यय करनेवाले व्यक्ति को भी अगणित लाभ पहुँचते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने धन को अपने पास सुरक्षित रखना चाहता है या लोगों से ब्याज लेकर उसे बढ़ाना चाहता है वह वास्तव में अपने धन के मूल्य (Value) को घटाता और स्वयं अपने विनाश की सामग्री जुटाता है। क़ुरआन में कहा गया है—

> "अल्लाह ब्याज का मठ मार देता है और सदक़ों को बढ़ाता है।"
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-276)

दूसरे स्थान पर कहा—

> "तुम जो ब्याज इस ध्येय से देते हो कि लोगों के माल को बढ़ाए तो अल्लाह की दृष्टि में उससे धन नहीं बढ़ता। हाँ, जो ज़कात तुम अल्लाह की प्रसन्नता के लिए दो वह बढ़ता चला जाएगा।"
> (क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-4)

''ज़कात का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य दीन (धर्म) की सहायता और

उसकी रक्षा भी है। अल्लाह के दीन (धर्म) के लिए जो कोशिश की जा रही हो और जो लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हों उनके सिलसिले में भी ज़कात का धन ख़र्च किया जा सकता है।

(क़ुरआन, सूरा-9 रूम, आयत-60)

माल की जो थोड़ी-सी मात्रा ज़कात के रूप में अनिवार्य की गई है उसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि धनवान बस उतना ही ख़र्च करें, उसके पश्चात यदि कोई अपनी ज़रूरत लेकर आ जाए या धर्म की सेवा का कोई अवसर आ जाए तो ख़र्च करने से साफ़ इनकार कर दें। बल्कि इसका अर्थ वास्तव में यह है कि कम-से-कम निश्चित धन तो हर धनवान व्यक्ति को ख़र्च करना ही चाहिए। उससे अधिक जितना भी हो सके ख़र्च करे। इसी प्रकार यदि ज़कात एक निश्चित मात्रा से कम माल पर अनिवार्य नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि जिन लोगों के पास इस निश्चित मात्रा से कम माल है वे अल्लाह के मार्ग में कुछ ख़र्च ही न करें। अल्लाह के मार्ग से जिस किसी से जो भी हो सके वह व्यय करे, इसमें स्वयं उसका अपना हित है।

ज़कात के लिए एक महत्व की बात यह भी है कि लोगों की ज़कात एक केन्द्र पर एकत्र की जाए। फिर वहाँ से एक व्यवस्था के अन्तर्गत उसे ख़र्च किया जाए। जिस तरह फ़र्ज़ (अनिवार्य) नमाज़ जमाअत के साथ एक इमाम की अध्यक्षता में अदा की जाती है उसी तरह ज़कात की भी एक सामूहिक व्यवस्था हो जिसके अन्तर्गत ज़कात भी दी जाए और फिर उसे व्यवस्थित रूप में ख़र्च भी किया जाए। इस प्रकार ज़कात से समाज को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँच सकता है।

रोज़ा

मनुष्य की प्राकृतिक एवं स्वाभाविक क्षमता और शक्ति के उभरने और उसके विकास पाने के लिए शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त साधारणतया मन और मस्तिष्क पर लौकिकता का पहलू इतना छाया रहता है कि मनुष्य के लिए यह अत्यन्त कठिन होता है कि वह चीज़ों को उनकी प्राकृतिक पवित्रता में देख सके और जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों (Values of Life) और वास्तविकताओं को समझ सके। रोज़ा एक इबादत (उपासना) और हमारी आध्यात्मिक एवं नैतिक दीक्षा का एक उत्तम उपाय है। 'रोज़ा' का वास्तविक उद्देश्य यह है कि हमें मन की शुद्धता प्राप्त हो, हममें संयम पैदा हो सके और हम अल्लाह का डर रखें। क़ुरआन में कहा गया है—

> "ऐ ईमान लानेवालो! तुमपर रोज़े अनिवार्य किए गए हैं जैसे तुमसे पहले लोगों पर अनिवार्य किए गए ताकि तुम डर रखनेवाले बन सको।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-183)

जब तक मनुष्य में आत्म-विश्वास न हो उसे न तो मन की शुद्धता प्राप्त हो सकती है और न वह अल्लाह की अवज्ञा से बच सकता है। जो व्यक्ति अपनी तुच्छ इच्छाओं का वशवर्ती हो उसे न अल्लाह की महानता का एहसास हो सकता है और न ही उसे जीवन के उच्च तथ्यों की अनुभूति हो सकती है। बढ़ी हुई पाशविक भावना उसे इसका अवसर ही कब देगी कि वह अपनी प्रकृति की वास्तविक माँगों की ओर ध्यान दे सके। रोज़ा इस बात का क्रियात्मक प्रदर्शन है कि खाना-पीना और स्त्री-प्रसंग के अतिरिक्त भी कोई चीज़ है जिसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। रोज़ा बन्दे को ईश्वर की ओर और जीवन के उन महत्वपूर्ण मूल्यों की ओर आकृष्ट करता है जो मानव-जीवन की वास्तविक निधि है। वह बन्दे को सुधार के ऐसे उच्च स्थान पर पहुँचाता है जहाँ बन्दा अपने ईश्वर से अत्यन्त समीप हो जाता है।

जहाँ अन्धकार छट जाता है और सारे आवरण उठ जाते हैं। इसी लिए विद्वानों ने कहा है—

"कितने ही लोग रोज़े से नहीं होते फिर भी वास्तविकता की दृष्टि से वे रोज़ेदार होते हैं और कितने ही लोग रोज़ा रखते हुए भी रोज़ेदार नहीं होते।"

रोज़ा ज़ाहिर में तो इस चीज़ का नाम है कि मनुष्य उषाकाल से लेकर सूर्यास्त तक खाने-पीने और विषय-भोग से रुका रहे, किन्तु अपने आशय और आन्तरिक उद्देश्य की दृष्टि से रोज़ा जिस चीज़ का नाम है वह यह है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रख सके, वह अल्लाह से डरता और उसकी अपेक्षा से बचता हो। कभी ऐसा होता है कि मनुष्य देखने में तो रोज़े से होता है लेकिन वास्तव में उसका रोज़ा नहीं होता। न उसकी आँखें पाक होती हैं और न उसका जीवन पवित्रता और ईश-भय के अन्तर्गत व्यतीत होता है।

रोज़े के लिए क़ुरआन ने जो शब्द प्रयोग किया है वह 'सौम' है। 'सौम' का शाब्दिक अर्थ है : बचना, पार्थक्य और मौन। इमाम राग़िब कहते हैं—

"सौम का वास्तविक अर्थ है किसी काम से रुक जाना, चाहे उसका सम्बन्ध खाने-पीने से हो या बातचीत करने या चलने-फिरने से हो। इसी कारण घोड़ा चलने-फिरने या चारा खाने से रुक जाए तो उसे साइम (रोज़ेदार) कहा जाता है। थमी हुई वायु और दोपहर के समय को भी सौम कहते हैं। इस विचार से कि उस समय सूर्य मध्य आकाश में रुक जाता है।"

इस व्याख्या से मालूम हुआ कि वास्तव में किसी चीज़ से रुक जाने की स्थिति का नाम सौम (रोज़ा) है। रोज़ा वास्तव में उसी व्यक्ति का है जो रोज़े की हालत में तो खाने-पीने और विषय-भोग से रुक जाए, और गुनाहों और अप्रिय कार्य को सदैव के लिए छोड़ दे।

रोज़ा अपने-आपको अल्लाह के लिए हर चीज़ से निवृत्त कर लेने और पूर्ण रूप से अल्लाह की ओर आकृष्ट होने का नाम है। इस पहलू से रोज़े

और एतिकाफ़ (सबसे अलग होकर अल्लाह की याद और उसकी इबादत के लिए एकान्तवास करना) में बड़ी अनुकूलता पाई जाती है। यही कारण है कि एतिकाफ़ के साथ रोज़ा रखना ज़रूरी समझा गया है। बल्कि प्राचीन धर्म-विधान में तो रोज़े की हालत में बातचीत से भी बचा जाता था। क़ुरआन में आता है कि हज़रत मसीह (अलैहि॰) के जन्म के अवसर पर हज़रत मरयम (अलैहस्सलाम) बहुत परेशान हुईं और उन्होंने यहाँ तक कहा कि काश कि मैं इससे पहले मर जाती और लोग मुझे भूल जाते! उस समय उन्हें तसल्ली देते हुए कहा गया था—

> "फिर यदि तू किसी आदमी को देखे तो (इशारे से) कह देना कि मैंने तो रहमान (कृपाशील ईश्वर) के लिए रोज़े की मन्नत मानी है, इसलिए मैं आज किसी आदमी से न बोलूँगी।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-19 मरयम, आयत-26)

रोज़े के कारण मनुष्य और फ़रिश्तों में बड़ी समरूपता आ जाती है। फ़रिश्तों को खाने-पीने की आवश्यकता नहीं होती, उनका आहार अल्लाह की हम्द (ईश-प्रशंसा) और तसबीह (ईश-गुणगान) है। रोज़े की हालत में मुस्लिम भी खाने-पीने और कामवासना आदि से दूर रहकर अल्लाह की इबादत और बन्दगी में व्यस्त दीख पड़ता है।

रोज़ा रखकर बन्दा अपनी इच्छाओं पर क़ाबू पाता है। उस व्यक्ति से जो अपनी इच्छाओं का दास हो इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वह सत्य के समर्थन और असत्य एवं अनैतिकता के उन्मूलन के लिए जानतोड़ कोशिश कर सकेगा। जिहाद के लिए सब्र और साहस दोनों अभीष्ट है। सब्र और साहस रोज़े की विशेषताओं में से हैं। इसी लिए नबी (सल्ल॰) ने रोज़े के महीने को सब्र का महीना कहा है। रोज़े के महीने में निरन्तर एक मास तक सब्र, आत्मनियंत्रण और अल्लाह की आज्ञापालन का अभ्यास कराया जाता है।

साधारण अवस्था में मनुष्य को दूसरों की तकलीफ़ और भूख-प्यास का एहसास नहीं हो पाता। रोज़े में भूख-प्यास का व्यावहारिक अनुभव मनुष्य

में स्वाभावतः यह एहसास उभारता है कि वह दीन-दुखियों और ज़रूरतमन्दों के साथ सहानुभूति का मामला करे और उन्हें उनकी परेशानी की दशा में न छोड़े। नबी (सल्ल॰) रमज़ान के महीने को 'मवासात का महीना' (भाईचारा एवं सहानुभूति का महीना) कहते थे। और इस महीने में आप अत्यन्त दानशील होते थे।

रोज़ा विनय एवं नम्रता का साकार प्रदर्शन भी है। इसी लिए गुनाहों के क्षमा कराने में रोज़ा सहायक सिद्ध होता है। इसी लिए शरीअत (धर्मशास्त्र) में कफ़्फ़ारा (प्रायश्चित) के रूप में भी रोज़ा रखने का आदेश किया गया है। रोज़ा न केवल यह कि गुनाह के प्रभाव को दिल से मिटाता है बल्कि वह दुआओं (प्रार्थनाओं) की स्वीकृति और अल्लाह की दयालुता को अपनी ओर आकृष्ट करने में भी सहायक होता है। प्राचीन ग्रन्थों में भी रोज़े की इस विशेषता का उल्लेख मिलता है। बाइबल में है—

"प्रभु का दिन महान और अति आतंकमय है, उसको कौन सह सकता है? प्रभु का यह सन्देश है, अब भी तुम पूर्ण हृदय से, उपवास करते, शोक मनाते और रोते हुए मेरे पास लौटो पश्चात्ताप करने के लिए। अपने वस्त्र नहीं, वरन् अपना हृदय विदीर्ण करो ओ यहूदा देश, अपने प्रभु परमेश्वर की ओर लौट। वह कृपालु और दयालु है। वह विलम्ब क्रोधी और महा करुणा सागर है। वह दुख देकर पछताता है।" (योएल, 2 : 11 से 13)

रोज़ा पवित्रतम इबादत (उपासना) है। रोज़ा अल्लाह की बड़ाई का प्रदर्शक और बन्दे की कृतज्ञता-विज्ञप्ति भी है। रोज़े के संदर्भ में क़ुरआन मजीद में जहाँ कहा गया है—

"ताकि तुम तक़वा (ईश-भय और धर्म-परायणता) हासिल करो," (क़ुरआन सूरा-2 बक़रा, आयत-183) वहीं यह भी कहा गया है कि "ताकि उस मार्गदर्शन पर जो तुम्हें प्रदान किया गया है अल्लाह की बड़ाई करो और ताकि तुम (उसके आगे) कृतज्ञता दिखाओ।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-185)

मानव-जाति पर यूँ तो अल्लाह के अगणित उपकार हैं लेकिन उसका

सबसे बड़ा उपकार यह है कि उसने हमें क़ुरआन जैसा उत्तम ग्रन्थ प्रदान किया। क़ुरआन ने मानव को मुक्ति और शाश्वत कल्याण का मार्ग दिखाया। मनुष्य को नैतिकता के उस उच्च पद से परिचित किया जिसकी साधारण अवस्था में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। रोज़ा रखकर मनुष्य अल्लाह की इस विशेष दयालुता पर प्रसन्नता और कृतज्ञता प्रकट करता है। मनुष्य अल्लाह का बन्दा और उसका सेवक है। अल्लाह ही उसका स्वामी और इष्ट-पूज्य है। मनुष्य के लिए आनन्द का उत्तम साधन वही है जिसके माध्यम से वह सम्बन्ध और नाता प्रदर्शित होता हो जो उसका वास्तविक नाता अपने ईश्वर से है—

हम उसके हैं हमारा पूछना क्या!

ईश-सम्बन्ध का यह प्रदर्शन स्वभावतः अल्लाह के समक्ष कृतज्ञता व्यक्त करना भी है। रमज़ान का महीना विशेष रूप से रोज़े के लिए इसलिए नियत किया गया कि यही वह शुभ मास है जिसमें क़ुरआन अवतरित होना आरंभ हुआ था। क़ुरआन के अवतरण-उद्देश्यों और रोज़े में बड़ी समानता पाई जाती है। क़ुरआन जिन उद्देश्यों के अन्तर्गत अवतरित हुआ है उसकी प्राप्ति में रोज़ा सहायक होता है।

रमज़ान में एक साथ मिलकर रोज़ा रखने से नेकी और आध्यात्मिकता का एक वातावरण पैदा हो जाता है जिसका दिलों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कम हिम्मत और कमज़ोर इरादे के व्यक्ति के लिए भी नेकी की राह पर चलना सरल हो जाता है। सफलता उसी के लिए है जिसने इस रहस्य को समझ लिया कि उसकी ज़िम्मेदारी केवल रोज़े के वाह्य नियमों के पालन तक सीमित नहीं है, बल्कि उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह रोज़े के वास्तविक उद्देश्य के प्रति असावधानी न दिखाए। रोज़े का आशय केवल रोज़े के समय तक ही अपेक्षित नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध मनुष्य के पूरे जीवन-काल से है। प्राचीन ग्रन्थों में भी ऐसे रोज़ों को व्यर्थ कहा गया है जिनकासम्बन्ध मन की शुद्धता, ईश-भय और उच्च नैतिकता से न हो। बाइबल की निम्नलिखित पंक्तियाँ कितनी प्रभावकारी है—

"वे मुझसे कहते हैं : हम उपवास करते हैं किन्तु तू उसको देखता नहीं, हम अपने प्राण को कष्ट देते हैं, परन्तु तू उसपर ध्यान नहीं देता। देखो, जब तुम उपवास करते हो तब तुम्हारा उद्देश्य अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना होता है। तुम अपने मज़दूरों पर अत्याचार करते हो देखो तुम केवल लड़ाई-झगड़ा करने के लिए, दुष्टता से घूसा मारने के लिए उपवास करते हो, तुम्हारे आजकल के उपवास से तुम्हारी प्रार्थना स्वर्ग में नहीं सुनाई देगी! क्या मैं ऐसे उपवास से प्रसन्न होता हूँ? क्या इस दिन उपवास करनेवाले व्यक्ति को अपने प्राण को कष्ट नहीं देना चाहिए? क्या सिर को झाऊ वृक्ष की तरह झुकाना, अपने नीचे राख और टाट-वस्त्र बिछाना, उपवास कहलाता है? क्या तुम इसको उपवास कहते हो? क्या ऐसा उपवास का दिन मुझे स्वीकार होगा?" (यशायाह, 58 : 3 से 5)

और इसी पुस्तक में आगे कहा गया—

"जिस उपवास (रोज़ा) से मैं प्रसन्न होता हूँ, वह क्या यह है : दुर्जनता के बन्धकों से मनुष्य को मुक्त करना, व्यक्ति की गरदन से जूआ उतारना, अत्याचार की ग़ुलामी में क़ैद इनसान को स्वतंत्र करना वस्तुतः हर प्रकार की ग़ुलामी से मनुष्य को स्वतंत्र करना। अपना भोजन भूखों को खिलाना, बेघर ग़रीब को अपने घर में जगह देना, किसी को नंगे देखकर उसे कपड़े पहनाना अपने ज़रूरतमन्द भाई-बहन से मुँह न छिपाना। तब तेरे आनन्द का प्रकाश प्रातः के पौ फटने के सदृश चमकेगा। तेरा घाव अतिशीघ्र भरेगा। तेरी धार्मिकता मार्ग में तेरे आगे-आगे तेरा मार्गदर्शन करेगी, और प्रभु की महिमा तेरे पीछे-पीछे रक्षक बनकर तेरी रक्षा करेगी। (यशायाह, 58:6 से 8)

अगर रोज़े से निश्चित रूप से लाभ उठाया जाए तो वह व्यक्ति को उस श्रेणी में खड़ा कर देगा कि उसे हर समय अपने कर्तव्य का एहसास रहने लगेगा। उसके रात व दिन कभी बेख़ौफ़ी और बेपरवाही के साथ बसर नहीं होंगे। वह हमेशा गुनाहों और नापसन्दीदा कामों से बचेगा और अपनी ज़िन्दगी के मक़सद को सामने रखेगा।

हज

'हज' का मूल अर्थ है ज़ियारत (दर्शन) का निश्चय करना। हज में हर तरफ़ से लोग काबा की ज़ियारत का इरादा करते हैं, इसी लिए इसका नाम हज रखा गया। हज को धर्म में मौलिक महत्व प्राप्त है। क़ुरआन में है—

> "लोगों पर अल्लाह का यह हक़ है कि जो व्यक्ति इस घर (काबा) तक पहुँच सकता हो वह उसका हज करे और जिस किसी ने कुफ़्र की नीति अपनाई तो (वह जान ले कि) अल्लाह समस्त जगत् से निस्पृह है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-97)

हज के लिए जाना वास्तव में अल्लाह की पुकार पर दौड़ना है। अल्लाह के आमंत्रण पर उसकी सेवा में हाज़िरी देना है। इसलिए सामर्थ्य रखने पर भी जो व्यक्ति हज नहीं करता वह वास्तव में अल्लाह से मुँह फेरे हुए है। अल्लाह से मुख मोड़कर मनुष्य स्वयं अपने साथ अन्याय करता है, इससे अल्लाह का कुछ नहीं बिगड़ता।

अल्लाह ने 'काबा' को सर्वथा भलाई, बरकत और सारे संसार के मार्गदर्शन का उद्गम बनाया है। यह तौहीद (एकेश्वरवाद) का केन्द्र है। हज़रत इबराहीम (अलैहि०) और उनके बेटे हज़रत इसमाईल (अलैहि०) ने इस घर का निर्माण अल्लाह के आदेश से किया था। इस निर्माण का स्थान भी अल्लाह ही ने निश्चित किया था। इस घर को अपना घर कहकर अल्लाह ने इसकी महानता और महत्व बढ़ा दिया है, और संसार में इसे केन्द्रीयता प्रदान की है।

हज़रत इबराहीम (अलैहि०) वे प्रथम नबी हैं जिन्हें अल्लाह ने सारे संसार का इमाम बनाया। हज़रत इबराहीम (अलैहि०) को आदेश दिया कि वे लोगों में सामान्य रूप से हज की घोषणा कर दें ताकि जो लोग एक अल्लाह की बन्दगी और दासता स्वीकार करें वे सब-के-सब इस केन्द्र से सम्बन्ध स्थापित कर लें। साल में एक बार हज के लिए यहाँ एकत्र हों और

इस घर का 'तवाफ़' (परिक्रमा) करें। सब मिलकर अल्लाह की इबादत करें। क़ुरबानी करें, ख़ुद भी खाएँ और ग़रीब व मुहताजों को भी खिलाएँ। काबा एक ओर वास्तविक उपासनागृह और वास्तविक मस्जिद है, दूसरी मस्जिदें इसकी प्रतिनिधि हैं, दूसरी ओर इस घर के निर्माण के मौलिक उद्देश्यों में कमज़ोरों, मुहताजों और निर्धनों की सहायता करना भी सम्मिलित है। इस प्रकार काबा सम्पूर्ण धर्म का केन्द्र सिद्ध होता है। इसके साथ किसी का सम्बन्ध वास्तव में अल्लाह के दीन (धर्म) के साथ सम्बद्ध होने का अर्थ रखता है। इस घर का हज करके मनुष्य विशुद्ध तौहीद का सन्देशवाहक बनकर लौटता है। उसमें यह भावना जाग्रत होती है कि वह तौहीद के सन्देश को सारे संसार में फैलाए।

हज एक पहलू से सबसे बड़ी इबादत है। अल्लाह के प्रेम में मनुष्य अपना कारोबार और अपने परिवार-मित्रों आदि को छोड़कर लम्बी यात्रा पर निकलता है। फिर उसकी यह यात्रा साधारण यात्रा की तरह नहीं होती। इस यात्रा में वह अल्लाह की ओर ध्यान देता है। जैसे-जैसे अल्लाह का घर निकट आता जाता है उत्सुकता एवं प्रेम की अग्नि और अधिक भड़कती जाती है। वह अपने गुनाहों पर लज्जित होता है, सच्चे दिल से तौबा करता और अल्लाह से प्रार्थनाएँ करता है कि उसे अच्छे कर्म करने का सौभाग्य प्राप्त हो। हिजाज़ के भूभाग में प्रवेश करता है तो इस्लाम की सच्चाई और महानता का एहसास अत्यन्त बढ़ जाता है। इस्लामी इतिहास निगाहों के सामने फिर जाता है। हृदय पर अल्लाह का प्रेम और उसके धर्म की महानता इस प्रकार अंकित हो जाती है कि मरते दम तक मिट नहीं सकती।

हज से सम्बन्धित जितने कार्य हैं उंन सबसे मनुष्य के हृदय पर तौहीद (एकेश्वरवाद) की ही छाप पड़ती है। हज के सिलसिले में सबसे पहला काम इहराम बाँधना है। इहराम एक अत्यन्त फ़क़ीराना वस्त्र है, जिसमें मनुष्य बस एक तहमद बाँध लेता है, कन्धों पर एक चादर डाल लेता है, सिर को खुला रखता है। चाहे कोई राष्ट्रपति हो या साधारण नागरिक, सब-के-सब एक स्तर पर होते हैं। सारे अन्तर मिट जाते हैं। इहराम की दशा में मनुष्य भोग-विलास और सज्जा और शृंगारिक वस्तुओं से परहेज़ करता है। इस इहराम

की हज में वही हैसियत है जो नमाज़ में तकबीरे-तहरीमा की है। तकबीरे-तहरीमा के द्वारा नमाज़ी एक नवीन वातावरण में पहुँच जाता है और कुछ समय के लिए वह अपने ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा लेता है। जिस प्रकार सलाम के द्वारा मनुष्य नमाज़ से निवृत हो जाता है उसी प्रकार वह सिर का मुण्डन कराके 'इहराम' सम्बन्धी प्रतिबन्धनों से निवृत हो जाता है। इहराम बाँधने के पश्चात् उसके मुख से ये शब्द निकलते हैं–

"हाज़िर हूँ, ऐ अल्लाह! मैं तेरी सेवा में हाज़िर हूँ, हाज़िर हूँ, तेरा कोई सहभागी नहीं। मैं तेरी सेवा में हाज़िर हूँ। निश्चय ही प्रशंसा तेरे ही लिए है। सारी कृपाएँ एवं उपकार तेरे ही हैं, राज्य तेरा ही है, तेरा कोई सहभागी नहीं है।"

ये शब्द बताते हैं कि ग़ुलाम अपने स्वामी की पुकार पर दौड़ता और स्वामी के गुणगान करता हुआ चला आ रहा है। प्रत्येक नमाज़ के पश्चात्, हर ऊँचाई पर चढ़ते और हर नीचाई की ओर उतरते हुए और प्रत्येक प्रातःकाल जागने के पश्चात् उच्च स्वरों में इन्हीं शब्दों को दुहराता है। मक्का में प्रवेश करके काबा पहुँचता है। हज्रे-असवद को चूमता और काबा का तवाफ़ (परिक्रमा) करता है। काबा के सात चक्कर लगाता है। फिर मक़ामे-इबराहीम पर या मस्जिदे-हराम में किसी स्थान पर दो रकअ़त नमाज़ अदा करता है। फिर सफ़ा की पहाड़ी पर, जो काबा के निकट ही है, चढ़ता है। काबा पर दृष्टिपात करता है। पुकार उठता है–**"अल्लाहु अकबर!"** (अल्लाह सबसे बड़ा है)। **"ला इला-ह इल्लल्लाह"** (अल्लाह के सिवा कोई इलाह नहीं)। इसके बाद नबी (सल्ल॰) पर दुरूद और सलाम भेजता है, और हाथ फैलाकर, जो कुछ माँगना होता है, अल्लाह से माँगता है। फिर नीचे आता है और सामने की दूसरी पहाड़ी मरवा की ओर तेज़ क़दमों से चलता है जिसे सई कहते हैं। इसपर भी पहुँचकर वह तकबीरे-तहलील, दुरूद और दुआ में लग जाता है। इसी प्रकार वह सात बार सई करता है। 8 ज़िल-हिज्जा की सुबह को लोग मक्का से मिना की ओर रवाना होते हैं। यह स्थान मक्का से तीन मील (लगभग 4.8 किमी.) के फ़ासले पर है। वहाँ से 9 ज़िल-हिज्जा की सुबह को हरम की सीमा से बाहर जाकर अरफ़ात के मैदान में पड़ाव

डालते हैं[1] फिर उसी सन्ध्या को समस्त लोग मुज़्दलिफ़ा जाकर ठहरते हैं। फिर 10 ज़िल-हिज्जा को मिना लौट आते हैं। फिर सब लोग जमरा-ए-उक़्बा की तरफ़ चलते हैं और उसपर सात कंकरियाँ मारते हैं। फिर मिना में क़ुरबानी करते हैं, फिर वहाँ बाल मुँडवाते हैं या कटवाते हैं। फिर मक्का पहुँचकर तवाफ़ करते हैं, फिर मिना को लौट आते हैं। वहाँ दो या तीन दिन ठहरते हैं। इन दिनों में प्रत्येक दिन तीन जमरों पर सात-सात बार तकबीर के साथ कंकड़ियाँ मारते हैं। तीसरे दिन उन खम्भों पर कंकड़ियाँ मारकर मक्का लौट आते हैं और सात बार काबा का तवाफ़ (परिक्रमा) करते हैं। यह तवाफ़े-विदा कहलाता है। इस तवाफ़ के बाद हज से मनुष्य निवृत्त हो जाता है। हज के समय में कभी इमाम के ख़ुतबे (भाषण) सुनते हैं, कभी "लब्बैक-अल्लाहुम-म लब्बैक" (हाज़िर हूँ, ऐ अल्लाह! मैं तेरी सेवा में हाज़िर हूँ) कहते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान करते हैं। कभी नमाज़ें जमा करके पढ़ते हैं अर्थात शीघ्रता की नमाज़ अदा करते हैं। हज का यह कार्यक्रम एक सैन्य जीवन का नक़्शा पेश करता है : पाँच-छह दिन तक लोगों को कैम्प का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। हज में यूँ समस्त इबादतों की विशेषताएँ पाई जाती हैं, परन्तु हज और जिहाद में बड़ी समानता पाई जाती है। हज़रत उमर (रज़ि०) ने अपने एक ख़ुतबे में कहा है, "जब जिहाद से निवृत्त हो तो हज के लिए कजावे कसो क्योंकि हज भी एक 'जिहाद' है।" (हदीस : बुख़ारी)

हज की एक-एक चीज़ हृदय पर तौहीद और अल्लाह के प्रेम को अंकित करती और मनुष्य को प्राणोत्सर्ग और बलिदान की भावना से परिपूर्ण करती है। काबा मुस्लिम व्यक्ति को याद दिलाता है कि उसका सम्बन्ध उस गरोह

---

1. अरफ़ात का सम्मेलन हश्र के मैदान में अल्लाह की सेवा में हाज़िरी की याद दिलाता है। क़ुरआन में भी है—"(हज सम्बन्धी कार्यक्रम का उल्लेख करते हुए कहा) और गिनती के कुछ दिनों में (मिना में) अल्लाह को याद करो। फिर जो कोई दो ही दिन में जल्दी कर ले (और लौट आए) तो उसपर कोई गुनाह नहीं और यदि कोई ठहर जाए तो उसपर भी कोई गुनाह नहीं।

   ये बातें उसके लिए हैं जो डरता है, और अल्लाह का डर रखो और जान रखो कि तुम सब उसके पास एकत्र किए जाओगे।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-203)

से है जिसके प्रकट होने की दुआ हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) ने की थी और जिसके अस्तित्व में आने का उद्देश्य यह है कि वह अल्लाह और उसके धर्म के लिए समर्पित हो : हजरे-असवद पर हाथ रखकर उसे चुम्बन देना एक ओर इस बात का प्रदर्शन है कि आदमी अल्लाह के हाथ में हाथ देकर अल्लाह से बन्दगी की प्रतिज्ञा की पुनरावृत्ति कर रहा है, दूसरी ओर यह कि चुम्बन वास्तव में प्रियतम के द्वार-शिला का चुम्बन है। काबा का तवाफ़ (परिक्रमा) अपने को समर्पित और निछावर करने की उस स्वाभाविक भावना का प्रदर्शन है जो मुस्लिम व्यक्ति के हृदय में अपने प्रिय स्वामी के लिए पाई जाती है। अल्लाह तो इससे उच्च है कि कोई उसके गिर्द घूम सके, अल्लाह ने हमें यह आदेश दिया है कि हम अपनी स्वाभाविक इच्छा इस घर का तवाफ़ करके पूर्ण करें। इसी प्रकार अल्लाह तो इससे उच्च है कि कोई उसके दामन से लिपटकर प्रार्थनाएँ कर सके। हमारी दुर्बलताओं पर तरस खाकर उसने हमारे परितोष के लिए यह प्रबन्ध किया है कि हम उसके दामन से लिपटकर अपनी कामनाओं को प्रस्तुत करने की कामना उसके घर की चौखट से लिपटकर पूरी कर लें। अतएव तवाफ़ और मक़ामे-इबराहीम पर दो रकूअत नमाज़ से निवृत होने के पश्चात् मुलूतज़म से चिपटकर दुआएँ माँगते हैं।

सफ़ा और मरवा के बीच 'सई' करना इस बात का प्रदर्शन है कि हम इसी प्रकार अपने स्वामी की सेवा और उसकी प्रसन्नता के लिए कार्यशील रहेंगे। हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) और इसमाईल (अलैहि॰) का मार्ग ही हमारा मार्ग है। खंभों पर कंकड़ियाँ मारना वास्तव में अबरहा की सेना की तबाही की यादगार है, जो ठीक हज के अवसर पर काबा को ढाने के लिए आया था और जिसे कंकड़ों और पत्थरों की वर्षा से अल्लाह ने विनष्ट करके रख दिया।

क़ुरबानी वास्तव में क़ुरआन के शब्दों में "ज़ब्हे-अज़ीम" हैं, जो हज़रत इसमाईल (अलैहि॰) का फ़िदया निश्चित हुआ था। अल्लाह के मार्ग में जानवर क़ुरबान करना अपने-आपको क़ुरबान करने का स्थानापन्न है। यह वास्तव में इस बात का इक़रार करना है कि हमारे प्राण अल्लाह की नज़्र

(भेंट) हैं, जब वह माँगेगा हम दे देंगे। जब भी अल्लाह के मार्ग में ख़ून बहाने की आवश्यकता होगी, हम अपना ख़ून बहाएँगे। अन्यथा केवल जानवर को कुरबान कर देने की कोई वास्तविकता नहीं है जब तक कि उसके पीछे कोई बड़ा उद्देश्य और पवित्र भावना काम न कर रही हो। क़ुरआन में कहा गया है—

> "न उन (क़ुरबानी के जानवरों) के मांस अल्लाह को पहुँचते हैं और न उनके रक्त, परन्तु तुम्हारा तक़वा (ईश-भय और धर्मनिष्ठा) उस तक पहुँचता है।" (क़ुरआन, सूरा-22 हज, आयत-37)

क़ुरबानी का हुक्म केवल मक्का में हज के अवसर पर अदा करने के लिए नहीं है, बल्कि क़ुरबानी करने की सामर्थ्य रखनेवाले मुसलमान जहाँ भी हों, इस अवसर पर उन्हें क़ुरबानी करनी चाहिए। नबी (सल्ल॰) जब तक मदीना में रहे हर वर्ष क़ुरबानी करते रहे।

ईदुल-फ़ित्र

त्योहार का सम्बन्ध वास्तव में मनुष्य के आन्तरिक भाव और भावनाओं से, विशेष रूप से उसके आनन्दमय भाव से होता है। यह आन्तरिक भाव जितना गहरा और अर्थपूर्ण होगा, त्योहार का महत्व और उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। ख़ुशी और आनन्द के बिना कोई भी समाज जीवन्त नहीं हो सकता। इसी लिए स्वीकार किया गया है कि त्योहार और सामाजिक जीवन में चोली-दामन का सम्बन्ध होता है।

एक ख़ुशी और आनन्द तो वह है कि जिसका सम्बन्ध केवल व्यक्ति विशेष से होता है, दूसरे लोगों से नहीं होता। इसके विपरीत एक ख़ुशी और आनन्द वह है जिससे अधिक-से-अधिक लोग सम्बन्ध रखते हैं। त्योहार का सम्बन्ध वास्तव में इसी प्रकार की ख़ुशी से होता है। इस दूसरे प्रकार की भावनाओं और ख़ुशियों को दृढ़ता प्रदान करने के लिए त्योहार का आविर्भाव हुआ है। अतएव त्योहार में संयुक्त और सामान्य ख़ुशियों का प्रदर्शन किया जाता है। अर्थात यह ख़ुशी सब मिलकर मनाते हैं। यह चीज़ लोगों में सामाजिकता का भाव पैदा करती है और त्योहार इसे बार-बार जीवन्त करता रहता है।

वे भावनाएँ जो किसी त्योहार की मूल आत्मा की हैसियत रखती हैं, उनका सम्बन्ध या तो किसी व्यक्तित्व से होता है या किसी विशेष देश या ऋतु या मौसम से होता है या फिर उसका सम्बन्ध किसी विशेष ऐतिहासिक घटना से होता है या फिर उसके पीछे कोई परम्परा या अन्धविश्वास काम कर रहा होता है।

इस्लाम एक विश्वव्यापी धर्म है, इसलिए उसकी अन्य शिक्षाओं की भाँति उसके त्योहारों में भी अत्यन्त व्यापकता पाई जाती है। इस्लाम किसी ऐसे दृष्टिकोण या धारणा का समर्थक नहीं जो पक्षपात और संकुचित दृष्टिकोण पर आधारित हो या जो साम्प्रदायिकता और पक्षपात का कारण

बन सकता हो। इस्लाम ने सम्पूर्ण मानवता के लिए उन परम्पराओं और भावनाओं को महत्व दिया है, जो सारी मानवता के लिए महत्त्व रखती हैं।

ईदुल-फ़ित्र इस्लाम का एक विशेष त्योहार है। यह त्योहार एक ऐसे अवसर पर मनाया जाता है जबकि लोग रमज़ान के महीना-भर के रोज़ों और तरावीह और क़ुरआन की तिलावत आदि महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण और आध्यात्मिक कार्यक्रमों को पूरा करके निवृत्त हुए होते हैं।

क़ुरआन से ज्ञात होता है कि रमज़ान के रोज़ों का बड़ा महत्त्व है। इन रोज़ों को पूरी चेतनता के साथ रखना बड़े श्रेय की बात है, जिसकी साधारणतः लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। क़ुरआन बताता है कि रोज़े का वास्तविक उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा मनुष्य में ईश्वर का भय, उसका आदर और उसकी बड़ाई का एहसास पैदा हो जाए और वह हर प्रकार की बुराइयों से बचते हुए ऐसे जीवन व्यतीत करने के योग्य बन जाए जो एक उत्तरदायी व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है, और वह उस क़ुरआन के प्रति अपने दायित्व को पहचाने जो इस महीने में अवतरित हुआ है और जिसमें सारे ही मनुष्यों के लिए मार्गदर्शन है, जिसके द्वारा मनुष्य सत्य-असत्य और खरे-खोटे में आसानी से अन्तर कर सकता है। क़ुरआन में ऐसे प्रत्यक्ष प्रामाणिक तथ्यों का वर्णन हुआ है कि उनके अन्तर्गत जीवन व्यतीत करनेवाला कभी पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। रोज़ा रखकर मनुष्य वास्तव में ईश्वर की महानता को स्वीकार करता और उसका प्रदर्शन करता है। उसपर ईश्वर के प्रताप, उसकी महानता और उसकी बड़ाई का एहसास इतना छाया होता है कि उसके आगे खाना-पीना तुच्छ होकर रह जाते हैं। रोज़ा यह बताता है कि जीवन केवल खाने-पीने और लैंगिक इच्छाओं को पूरा करने का ही नाम नहीं है, बल्कि जीवन का मूल्य इन सबसे बढ़कर है।

ईश्वर की महानता को स्वीकार न करना जड़ता और अकृतज्ञता की बात है। ईश्वर उन लोगों से, जो यह किताब रखते हैं, स्वभावतः यह अपेक्षा करता है कि उसकी अनुकम्पओं से लाभान्वित होकर वे अकृतज्ञ बनकर न रहें, बल्कि उसके कृतज्ञ हों और उनकी कृतज्ञता का प्रदर्शन केवल मुख तक सीमित होकर न रहे, बल्कि जीवन के प्रत्येक मामले में, चाहे उसका

सम्बन्ध परिवार से हो या उनका सम्बन्ध लेन-देन या व्यापार से या वह मामला राजनीति और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से हो। वे तमाम ही मामलों और विषयों में ईश्वर के आदेशों का पालन करेंगे और अपने दिल में किसी प्रकार की तंगी महसूस नहीं करेंगे, बल्कि उनका हाल यह होगा कि वे ईश्वर के अत्यन्त कृतज्ञ होंगे और ईश्वर की अनुकम्पाओं के ज्ञान के साथ कृतज्ञता का यह भाव भी बढ़ता चला जाएगा। यह उद्‌गार और भाव कभी ठंडा पड़ने का नहीं, क्योंकि इस भाव का कारण ईश्वर की अनुकम्पाएँ ही हैं, जिनका कभी अन्त होनेवाला नहीं।

रमज़ान में मनुष्य का जो प्रशिक्षण होता है और बन्दगी और आराधना के द्वारा उसकी चेतना में जो पवित्रता आ जाती है, उससे मानव के व्यक्तित्व का जो निर्माण और विकास होता है, उसके शील-स्वभाव और चरित्र को जो बल मिलता है और उसका जो आत्मिक विकास होता है, वह एक ऐसी उपलब्धि है कि उसपर हज़ार ख़ुशियाँ निछावर की जा सकती हैं।

वायु, जल और यह अनाज आदि सभी चीज़ें भौतिक दृष्टि से ज़रूरी हैं। वास्तव में ये सब चीज़ें ईश्वर की अनुकम्पा और उसके उपकार का जीवन्त प्रमाण हैं। लेकिन हम सब जानते हैं कि ये सारी चीज़ें मनुष्य के शारीरिक अस्तित्व के लिए हैं, जबकि क़ुरआन और उसकी शिक्षाएँ ऐसी चीज़ें हैं जो मनुष्य की आत्मा और उसके चरित्र से सम्बन्ध रखती हैं और सत्य यह है कि ईश्वर की ओर से यह मार्गदर्शन मानवता के लिए महान उपलब्धि है। इसका एहसास उस समय होता है जबकि इनके प्रभाव से एक पवित्र जीवन प्राप्त होता है और ईश्वर के बताए हुए नियमों और शिक्षाओं पर आधारित मानव-सभ्यता का निर्माण होता है और संसार शान्तिमय हो जाता है। आत्मा को शान्ति और परितोष प्राप्त होता है और हमारी हर प्रकार की ज़रूरतें पूरी होती हैं।

सारांश यह कि ईदुल-फ़ित्र का त्योहार इस एहसास को उभारता है कि हमको जो भी चीज़ मिली है, वह असाधारण और अनुपम है। यह त्योहार संयुक्त ख़ुशियों और संयुक्त भावनाओं के प्रदर्शन का त्योहार है। अतएव इसे दुनिया के सारे ही मुसलमान मनाते हैं, भले ही उसका सम्बन्ध किसी

भी क़ौम और रंग से हो। सभी इसके लिए ईश्वर के आभारी होते हैं कि उन्हें इसका अवसर मिला कि उन्होंने खुदा की महानता और उसकी बड़ाई के प्रदर्शन को अपना जीवन ठहराया और ईशपरायणता को अंगीकार करने के लिए सतत सचेष्ट रहे। रमज़ान के रोज़े रखें और अपने सजदों के द्वारा ईश्वर की महानता के आगे अपने को विस्मृत करते रहें और इस एहसास को ज़िन्दा रखा कि ईश्वर की बड़ाई के आगे हर बुलन्दी पस्त है और उसकी खुशी और रज़ामन्दी के आगे हर चीज़ तुच्छ है और वह सदैव ईश्वर का आभारी रहे कि ईश्वर ने उन्हें अपनी महानता का ज्ञान प्रदान किया और उन्हें उन लोगों में सम्मिलित किया जो उसकी बड़ाई को स्वीकार करते हैं और मानवता के हितैषी होते हैं, उनके दुख और उदासी को दूर करके दुनिया में रहना चाहते हैं।

खुशी और आनन्द के प्रदर्शन के जो सभ्य तरीक़े होते हैं, ईदुल-फ़ित्र में उन्हीं को अपनाने का आदेश दिया गया है। ऐसे तरीक़ों से रोका गया है जो अनुचित और असभ्य हैं। उदाहरणार्थ निर्लज्जतापूर्ण गाने, राग-रंग, मदिरापान, अपशब्द और गाली-गलौच आदि। इस त्योहार में उन्हीं परम्पराओं को स्वीकार किया गया है जो मर्यादाहीनता, निर्लज्जता और असभ्यता से बिलकुल पाक हों। दिल बहलाने और मनोरंजन को सभ्यता के दायरे में रखा गया है और इसकी ताकीद की गई है कि त्योहार मनाने में गम्भीरता और मर्यादा को कदापि आघात न पहुँचे।

ईदुल-फ़ित्र ऐसा त्योहार है जिसे एक बन्दगी और इबादत की हैसियत प्राप्त है। ईश्वर का गुणगान और उसकी बड़ाई के वर्णन को इसमें शामिल किया गया है। यह त्योहार वास्तव में कृतज्ञता प्रदर्शन का त्योहार है। ईदुल-फ़ित्र के अवसर पर यह पहलू पूर्ण रूप से दिखाई देता है।

इस त्योहार के अवसर पर स्त्री-पुरुष और बच्चे सभी प्रातः स्नान करते, अच्छे-से-अच्छा कपड़ा, जो उन्हें प्राप्त होता है, पहनते हैं। खुशबू लगाते हैं।

इसकी ताकीद है कि इस खुशी के अवसर पर दीन-दुखियों को कदापि भुलाया न जाए। इसके लिए सदक़ा-ए-फ़ित्र अनिवार्य किया गया है, ताकि

कोई व्यक्ति इस दिन भूखा न रह जाए।

आदेश है कि सभी लोग बस्ती से बाहर निकलकर ईदगाह में एकत्र हों, रास्ते में तकबीर पढ़ते हुए अर्थात ईश्वर की बड़ाई का वर्णन करते हुए निकलें, क्योंकि ईश-ज्ञान और ईश्वर की पहचान ही जीवन की निधि, बल्कि समस्त जीवन और हमारी ख़ुशियों का आधार है। फिर यह भी आदेश दिया गया है कि जिस रास्ते से ईदगाह आएँ, उसे छोड़कर दूसरे रास्ते से घर लौटें, ताकि बस्ती का हर हिस्सा ईश-गुणगान से प्रकाशमय हो जाए।

साधारणतः लोग नहीं जानते कि ईद में ख़ुशी, आनन्द और उत्तम भावनाओं का पूर्ण प्रदर्शन उस समय होता है जब ईदगाह में लोग ईश्वर के आगे पंक्तिबद्ध होकर खड़े होते और उसे सजदा करते हैं। सबसे आनन्ददायक और सबसे प्रिय दशा इनसान के लिए वह है जिसमें उस सम्बन्ध का प्रदर्शन होता है जो ईश्वर और उसके बन्दों के मध्य पाया जाता है। ज़ाहिर है कि यह दशा ईश्वर के आगे झुकने और उसे सजदा करने से बढ़कर कोई दूसरी नहीं हो सकती। ईश्वर और बन्दे के मध्य पाए जानेवाले सम्पर्क और सम्बन्ध का प्रदर्शन जीवन का सबसे अधिक मधुर राग है। जीवन का सबसे अधिक भाव-विभोर करनेवाला और आत्मा के लिए जीवन्त क्षण वही है जब बन्दा ईश्वर के आगे सजदा करता है। इसी लिए ईश्वर के आगे सजदा किए बिना ईद का यह त्योहार अपनी पूर्णता को नहीं पहुँचता। इसी तरह ग़रीबों, दीन-दुखियों की उपेक्षा करके भी यह त्योहार मनाया नहीं जा सकता है। इस त्योहार में ईश्वर के बन्दों के प्रति हमारा जो कर्तव्य है, उसका पूरा ध्यान रखा गया है।

यह त्योहार बताता है कि सभी मनुष्य एक परिवार की हैसियत रखते हैं। उनमें परस्पर सहानुभूति, हितैषिता और प्रेम का सम्बन्ध होना चाहिए। यह त्योहार अपने दामन में सारी मानवता को समेट लेता है। समस्त मानवों को ख़ुशियों में शरीक देखना इस्लाम की मूल आत्मा है। ईदुल-फ़ित्र के द्वारा इस्लाम का प्रदर्शन होता है और इससे अज्ञान का निषेध होता है। क्या ही अच्छा होता कि हम ईदुल-फ़ित्र की वास्तविकता, उसके उद्देश्य और उसकी अर्थवत्ता को समझ पाते!

ईदुल-अज़हा और हज़रत इबराहीम (अलैहि०) की सुन्नत

मानव-जीवन में त्योहार का बड़ा महत्त्व है। त्योहार के द्वारा मानव की अपनी भावनाओं, कल्पनाओं और उसकी वास्तविक कामनाओं का प्रदर्शन होता है। इस प्रदर्शन का महत्त्व भी है और आवश्यकता भी। इससे समाज के जीवन्त होने का प्रमाण मिलता है।

इस्लाम ने अपने अनुयायियों को दो त्योहार दिए हैं। एक ईदुल-फ़ित्र है, जो रमज़ान के समाप्त होने के तुरन्त बाद मनाया जाता है। दूसरा त्योहार ईदुल-अज़हा या क़ुरबानी का त्योहार है, जो हज के बाद ही मनाया जाता है। त्योहार कोई भी हो, उसमें ख़ुशी और आनन्द का पहलू उभरा हुआ होता है। आनन्द और ख़ुशी वास्तव में वही है, जो अपने में व्यापकता लिए हुए हो और शाश्वतता से उसका सम्बन्ध हो। मानव वास्तव में केवल भौतिक ख़ुशी के लिए ही नहीं, बल्कि शाश्वत आनन्द प्राप्त करने के लिए पैदा हुआ है। वास्तविक त्योहार वही है जिसका किसी शाश्वत और सच्ची ख़ुशी से सम्बन्ध हो या यूँ कहिए कि शाश्वत आनन्द की कल्पना ने ही त्योहार को जन्म दिया है।

ईदुल-अज़हा की मूल आत्मा ईश्वर की बन्दगी के द्वारा ईश-प्राप्ति के सिवा कुछ और नहीं है। सत्य यह है कि सम्पूर्ण मानवता को यदि कोई चीज़ एक कर सकती है तो वह ईश-बन्दगी की धारणा ही हो सकती है। ईशपरायणता से हटकर दूसरी तमाम चीज़ें अस्थायी और ससीम ही होंगी। उनमें वह व्यापकता नहीं पाई जा सकती जो सम्पूर्ण मानवता की एकता के लिए आधार बन सके और जो सम्पूर्ण मानवता को एक गरोह का रूप दे सके।

ईदुल-अज़हा का सम्बन्ध एक महान क़ुरबानी से है। यह क़ुरबानी

अल्लाह के विशेष पैग़म्बर हज़रत इबराहीम (अलैहि०) ने पेश की थी। मानव-जीवन की पूर्णता वास्तव में क़ुरबानी ही पर आधारित है। जब मनुष्य इस सत्य को स्वीकार कर ले कि ईश्वर से विलग होकर उसका कोई अस्तित्व नहीं है, बल्कि उसका अस्तित्व और उसका जीवन ईश्वर की सत्ता पर ही निर्भर करता है। जब उसको इस बात का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा कि उसके पास उसका अपना कुछ नहीं है; जो कुछ है वह ईश्वर की अनुकम्पा का परिणाम है, तो वह इस सत्य को पा लेगा कि वह जितना अधिक अपने जीवन में ईश्वर को सम्मिलित करेगा या यूँ कहें कि उसके जीवन में ईश्वर का जितना अधिक प्रवेश होगा, उतना ही अधिक वह सफल और कृत-कृत्य होगा।

मनुष्य अपने जीवन में स्वयं को कम, ईश्वर को अधिक पाए। जीवन का सौन्दर्य इसी में है। ईश्वर की प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता हो। यही वह समर्पण है जिसे बन्दगी कहते हैं। बन्दगी की मूल आत्मा क़ुरबानी ही है। बन्दा अपनी कोई चीज़ ईश्वर से बचाकर नहीं रखता। उसे अपने प्राण से भी बढ़कर ईश्वर से प्रेम होता है। यही वह चीज़ है जिसे इस्लाम की परिभाषा में ईमान कहा गया है।

जैसा कि बताया गया कि क़ुरबानी के त्योहार की अपनी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। आज से हज़ारों वर्ष पूर्व सामी जाति जब अरब से निकली और बाबिल में उसके राज्य की स्थापना हुई तो हज़रत इबराहीम (अलैहि०) के पूर्वज भी वहीं आकर आबाद हो गए। फिर जब वहाँ के लोग एकेश्वरवाद की शिक्षा को त्यागकर बहुदेववाद में ग्रस्त हो गए तो उनके मार्गदर्शन और उन्हें सत्य-मार्ग पर लाने के लिए ईश्वर ने हज़रत इबराहीम (अलैहि०) को पैग़म्बरी के पद पर आसीन किया, किन्तु उनके अथक प्रयासों के बावजूद क़ौम राह पर न आ सकी। बस थोड़े-से लोग ही ईमान ला सके। हज़रत इबराहीम (अलैहि०) ने उस भू-भाग को त्याग दिया। उनके साथ उनके भतीजे हज़रत लूत (अलैहि०) भी थे। हज़रत इबराहीम (अलैहि०) ने औलाद के लिए प्रार्थना की। यह प्रार्थना स्वीकृत हुई। उनके यहाँ एक बेटा पैदा हुआ। उसका नाम इसमाईल रखा गया। एक समय के बाद हज़रत

इबराहीम (अलैहि॰) मक्का की उस घाटी में पहुँचे जहाँ ईश्वर का प्रथम घर निर्मित हुआ था। इस घर की विशेषता यह रही है कि यह सत्य से विमुख लोगों को दूर फेंक देता है। यहाँ के लोग जब बहुदेववाद और मूर्तिपूजा में पड़ गए तो परिणामस्वरूप वे मक्का से हटकर उससे बहुत दूर चले गए। जानेवाले अपने साथ काबा के पत्थर भी ले गए। इस पुरातन घर का एक चमकदार पत्थर जो संयोगवश वहाँ रह गया था, हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) के हाथ आया। उन्होंने उसी को यादगार ठहराया। फिर वे हज़रत इसमाईल (अलैहि॰) को भी मक्का ले आए। उस समय हज़रत इसमाईल (अलैहि॰) 16 वर्ष के थे। हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) ने स्वप्न में देखा कि वे अपने इकलौते बेटे इसमाईल (अलैहि॰) को ईश्वर के लिए क़ुरबान कर रहे हैं। इस स्वप्न को सत्य का रूप देने के लिए बाप-बेटे दोनों तैयार हो गए। ईश्वर की खुशी पूरी हो, इससे बढ़कर खुशी की बात उनके लिए और क्या हो सकती थी। ईश्वर के प्रिय बन्दे की मृत्यु साधारण मौत नहीं होती। उनकी मृत्यु का अर्थ प्रीतम पर निछावर होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसमें जो सौन्दर्य पाया जाता है, उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता। अतएव क़ुरआन ने अपने प्रिय बन्दों के जीवन को जहाँ इबादत की संज्ञा दी है, वहीं उसने ऐसी मृत्यु को जो ईश्वर के लिए हो, क़ुरबानी से अभिहित किया है।

जिस समय हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) ने अपने बेटे को अपने स्वप्न से अवगत कराया तो बेटे ने कहा—

> "अब्बा जान! आप वही कीजिए जिसका आदेश आपको दिया जा रहा है। ईश्वर ने चाहा तो आप मुझे धैर्यवान पाएँगे।"

क़ुरआन में है कि हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) ने जिस समय बेटे को क़ुरबान करने के लिए लिटाया तो ईश्वर ने आवाज़ दी—

> "ऐ इबराहीम! तू स्वप्न को सच्चा कर दिखाया। तेरी क़ुरबानी स्वीकृत हुई। अब बेटे को क़ुरबान करने की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारे बेटे का जीवन ईश्वर की बन्दगी और उसकी सेवा के लिए समर्पित होगा। उसके क़ुरबान होने का अर्थ यही है। इस

कुरबानी के लिए लाक्षणिक रूप में जानवर की क़ुरबानी पेश की जाए।"

क़ुरआन में बताया गया कि ईश्वर के यहाँ कुरबानी का न मांस पहुँचता है और न ही रक्त पहुँचता है, बल्कि उसके यहाँ जो चीज़ पहुँचती है, वह ईशपरायण्ता की भावना है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के हृदय से होता है।

ईदुल-अज़हा का त्योहार, जैसा कि कहा गया, हज के पश्चात् ही आता है। ईदुल-अज़हा का एक पहलू वास्तव में हज का ही विस्तार है। हज से सम्बन्धित तमाम कृत्य मक्का और उसके निकट भू-भागों ही में पूरी की जाती है। लेकिन उसके एक अंग अर्थात ख़ुदा के नाम पर जानवरों की कुरबानी के लिए यह छूट दी गई कि धरती में कहीं भी और किसी भी देश में रहकर कर सकते हैं। हज और ईदुल-अज़हा की क़ुरबानी दोनों ही का हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) से गहरा सम्पर्क है। यह हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) की सुन्नत है, जैसा कि स्वयं नबी (सल्ल॰) के कथन से इसकी पुष्टि होती है। हज और क़ुरबानी के द्वारा हम हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) के जीवन और उसकी शिक्षा की मूल आत्मा से परिचित होते हैं। क़ुरबानी के समय जो दुआ पढ़ी जाती है, उससे क़ुरबानी का वास्तविक आशय और उद्देश्य ज्ञात होता है। दुआ यह है—

"मैंने पूर्ण एकाग्रता के साथ अपना मुख उस ईश्वर की ओर कर लिया है जो आकाशों और धरती का सृष्टिकर्ता है। मैं शिर्क करनेवाले बहुदेववादियों में से नहीं हूँ। निश्चय ही मेरी नमाज़ और मेरी क़ुरबानी, मेरा जीवन और मेरी मृत्यु सब जगत् के प्रभु-पालनहार के लिए है। उसका कोई साझी नहीं। इसी का मुझे आदेश दिया गया है और सबसे पहले मैं मुस्लिम और आज्ञाकारी होता हूँ। ऐ अल्लाह! यह तेरा ही दिया हुआ है और तेरे प्रति अर्पित है।"

ईदुल-फ़ित्र की तरह ईदुल-अज़हा के अवसर पर भी लोग नहा-धोकर, अच्छे-से-अच्छा कपड़ा पहनकर ईदगाह पहुँचते हैं। ईदगाह जाते हुए भी और लौटते हुए भी उच्च स्वर से तकबीर अर्थात ईश-महानता की उक्ति उच्चारित

करते हैं। इस प्रकार वह ईश्वर की महानता और उसकी बड़ाई को प्रदर्शित करते हैं और इसकी अभिघोषणा करते हैं कि बड़ा तो केवल अल्लाह ही है। उसके मुक़ाबले में सभी बड़ाइयाँ धूल समान हैं। सभ्यता और संस्कृति भी यही है कि हम उसकी महानता के आगे झुक जाएँ।

ईदुल-फ़ित्र की तरह ईदुल-अज़हा के अवसर पर भी ईद की नमाज़ अदा की जाती है और फिर ख़ुतबा (अभिभाषण) दिया जाता है। ख़ुतबा के द्वारा धार्मिक आदेशों को याद दिलाया जाता है।

नमाज़ को इस्लामी त्योहार का विशेष अंग ठहराकर एक बड़े तथ्य को अनावृत्त किया गया है। नमाज़ विशेष रूप से सजदे के द्वारा ईश्वर और उसके बन्दे के मध्य जो मधुर सम्बन्ध पाया जाता है, उसका प्रदर्शन होता है। जो अत्यन्त गहरा, सुदृढ़ और सूक्ष्म है। इस सम्बन्ध के प्रदर्शन के बिना किसी ख़ुशी और आनन्द की पूर्ति नहीं होती और न ही इसके बिना ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन का हक़ अदा हो सकता है।

इस त्योहार के मौक़े पर दीन-दुखियों और ग़रीबों का विशेष ध्यान रखने का आदेश दिया गया है। इस प्रकार यह त्योहार यह सन्देश भी लेकर आता है कि ख़ुशियाँ मनाओ तो सबको साथ लेकर मनाओ। हमारे लिए अनिवार्य है कि ईश्वर के प्रति हमारा जो कर्तव्य होता है, हम उसे पहचानें और पारस्परिक भ्रातृत्व के सम्बन्ध को भी कमज़ोर न होने दें।

दुआ

'दुआ' बन्दे की पुकार और अल्लाह की सेवा में उसकी याचना है। एक मुस्लिम व्यक्ति अल्लाह को छोड़कर किसी दूसरे को नहीं पुकारता। उसकी ज़बान पर अल्लाह ही का ज़िक्र होता है। एक अल्लाह ही की महानता और बड़ाई के वर्णन के लिए उसकी जिह्वा अर्पित होती है। उसके इस कर्म में सारी सृष्टि उसके साथ होती है। मुस्लिम केवल अपने रब से माँगता है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसी को पुकारता है। उसकी फ़रियाद उसी से होती है। वह उसी के मार्गदर्शन् का इच्छुक होता है। उसी को शरणदाता और अपना कार्यसाधक समझता है। यही उसका दीन (धर्म) और ईमान है, जिस दीन का वह अनुयायी है, वास्तव में यही सम्पूर्ण जगत् का दीन है। क़ुरआन में कहा गया है—

"हर वह चीज़ जो आकाशों और धरती में है अल्लाह की तसबीह करती है, और वह प्रभुत्वशाली और तत्वदर्शी है।"

(क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयत-1

एक दूसरी जगह कहा गया—

"आकाशों और धरती में जो भी हैं सब उसके भिक्षुक हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-55 रहमान, आयत-29

एक मुस्लिम को इसी बात का आदेश दिया गया है कि वह केवल एक अल्लाह को पुकारे, और केवल उसी से आशाएँ रखे। "अपने पालनहार को पुकारो गिड़गिड़ाते हुए और चुपके-चुपके। निस्सन्देह वह हद से गुज़रनेवालों को पसन्द नहीं करता।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-55) "उनकी पीठें बिस्तरों से अलग रहती हैं, अपने पालनहार प्रभु को भय और लालसा के साथ पुकारते हैं, और जो कुछ हमने उन्हें दिया है उसमें से ख़र्च करते हैं।" (क़ुरआन, सूरा-32 सजदा, आयत-16) एक अल्लाह को पुकारना

अल्लाह की बन्दगी और इबादत में सम्मिलित है। जब बन्दा अपने रब के सामने अपनी ज़रूरतें पेश करता और विवशता की दशा में उसे आवाज़ देता है, तो इस प्रकार वास्तव में वह अल्लाह के प्रभुत्व और उच्चता और अपनी बन्दगी और दुर्बलता को स्वीकार करता है, वह अल्लाह के समक्ष अपनी विवशता और विनम्रता को पेश करके उससे उसकी कृपा का अभिलाषी होता है। बन्दगी और विनम्रता का प्रदर्शन स्वयं इबादत, बल्कि इबादत का मूल तत्त्व है।[1] इसी लिए नबी (सल्ल॰) ने दुआ को इबादत का सत् कहा है और इसी लिए अल्लाह को छोड़कर किसी दूसरे को पुकारने को क़ुरआन शिर्क और पथभ्रष्टता कहता है। क़ुरआन की विभिन्न आयतों में दुआ और पुकार से आशय अल्लाह की इबादत ही है। उदाहरणार्थ एक जगह कहा गया—

"हर इबादत में अपना रुख़ ठीक रखो और दीन को ख़ालिस उसी के लिए रखकर उसे पुकारो।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-28)

एक दूसरी जगह कहा गया है—

"वह सजीव है, उसके सिवा कोई इलाह (पूज्य-प्रभु) नहीं, तो दीन को उसी के लिए ख़ालिस करके उसे पुकारो।"

(क़ुरआन, सूरा-40 मोमिन, आयत-65)

एक स्थान पर कहा गया—

"सजदे अल्लाह ही के लिए हैं, तो तुम अल्लाह के साथ किसी और को न पुकारो।" (क़ुरआन, सूरा-72 जिन्न, आयत-18)

---

1. इब्ने-तैमिया ने लिखा है—"बन्दगी अत्यन्त विनम्रता और प्रेम का नाम है" (रिसालतुल-उबूदियत, पृ॰ 28)। इब्ने-क़य्यिम लिखते हैं—"इबादत के दो विशेष मूलतत्व हैं: अत्यन्त प्रेम, अत्यन्त विनय एवं विनम्रता और झुकाव के साथ। यदि तुम किसी से प्रेम करो, परन्तु उससे तुम्हारा विनयपूर्ण सम्बन्ध न हो तो तुम उसकी इबादत नहीं करते। इसी प्रकार, विनय भाव एवं विनम्रता हो और प्रेम न हो तो उस समय भी तुम आबिद (इबादत और बन्दगी करनेवाले) नहीं कहे जाओगे जब तक कि विनययुक्त प्रेम करनेवाले न बन जाओ।

मनुष्य के लिए यह चीज़ सबसे बड़ी आनन्ददायक है कि वह अपने रब की ओर एकाग्रचित होकर आकृष्ट हो। दुआ में याचना, ईश-प्रशंसा, प्रेम, मन का झुकाव, विनयभाव और अल्लाह की ओर ध्यानाकृष्टि आदि वे सभी चीज़ें सम्मिलित होती हैं जो ईमानवालों के लिए जीवन की बहुमूल्य निधि हैं। क़ुरआन करीम में कहा गया है—

"अपने रब को विनम्र भाव के साथ गिड़गिड़ाते हुए गुप्त रूप से पुकारो, निस्सन्देह हद से आगे बढ़नेवाले उसे प्रिय नहीं हैं और धरती में सुधार के पश्चात् बिगाड़ न पैदा करो और उसे भय और लोभ (दोनों प्रकार के मिले-जुले भावों) के साथ पुकारो, निस्संदेह अल्लाह की दयालुता सन्मार्गी लोगों के समीप है।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयतें-55, 56)

इसी विशेषता को दूसरी जगह यूँ स्पष्ट किया गया—

"निश्चय ही वे (अल्लाह के नबी) नेकियों में अग्रसरता दिखाते थे और हमें चाह और भय (के मिले-जुले भावों) के साथ पुकारते थे और वे हमारे सामने विनम्रता अपनानेवाले थे।"

(क़ुरआन, सूरा-21 अंबिया, आयत-90)

एक दूसरी जगह है—

"उनके पहलू बिस्तरों से अलग हो जाते हैं। वे भय और लालसा के साथ अपने रब को पुकारते हैं और जो कुछ हमने उन्हें दिया है उसमें से (हमारी राह में) ख़र्च करते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-32 सजदा, आयत-16)

दुआ का हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है। वह व्यक्ति जो अल्लाह के मार्गदर्शन के अनुसार जीवन-व्यवस्था को सुदृढ़ करना चाहता है उसे हर समय इसकी आवश्यकता होती है कि उसे अल्लाह का योग (तौफ़ीक़) और सहायता प्राप्त हो। इसके बिना वह संमार्ग पर एक क़दम भी नहीं चल सकता और न इसके बिना वह उन शैतानों और मक्कारों का मुक़ाबला कर सकता है जो उसे सत्य से फेरने के लिए हर समय अपना ज़ोर लगाते रहते हैं।

मोमिन की सबसे बहुमूल्य पूँजी और शक्ति वह भक्तिभाव और दासता की प्रेरणा है जिसके सहारे वह सत्य-मार्ग पर अविचलित रूप से चलता और असत्य की प्रत्येक चाल का दृढ़तापूर्वक मुक़ाबला करता है। उसकी कोशिश यह होती है कि एक ओर वह जीवन में बन्दगी की माँगों को पूरा करे, अल्लाह की निश्चित की हुई सीमाओं का आदर करे, हर प्रकार के गुनाहों और अल्लाह की अवज्ञा से अपने जीवन को दूर रखे, दूसरी ओर हर श्वास के साथ अल्लाह की दयालुता से अपना सम्बन्ध बनाए रखे। मुस्लिम अपनी याचना का दामन हर समय अल्लाह की सेवा में फैलाए रहता है। अकेला हो या लोगों के साथ, मस्जिद में हो या बाज़ार, सफ़र में हो या घर में, बीमार हो या स्वस्थ, प्रत्येक अवस्था में उसका यह अमल जारी रहता है। वह सदा अल्लाह से सहायता का इच्छुक होता है। अल्लाह की सेवा में दुआएँ और विनती करने को वह बड़े सौभाग्य की बात समझता है।

दास्यभाव मानव का स्वाभाविक भाव है। यही वह भाव है जो हमारे मन में तरंगित होनेवाले विभिन्न भावों और प्रेरणाओं को अर्थमय और आशययुक्त बनाता है। उन्हें अनुकूलता एवं एकात्मकता प्रदान करता है। भावनाओं और अंतः प्रेरणाओं की अनेकता में एकता की विशेषता पैदा करता है। दास्यभाव के वास्तविक अर्थ और उसकी माँगों का पूर्ण परिचय केवल अल्लाह के रसूलों द्वारा प्राप्त होता है। दासता की अनुभूति वह शान्ति एवं आनन्दनिधि है जिससे हृदयों को परितोष और दिव्य सुख प्राप्त होता है। यही वह मार्ग है जो बन्दे को उसके रब से मिलाता है। दास्यभाव वास्तव में जीवन की उच्चतम एवं मनोरम उमंगों का मूलाधार है। यह एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने की अभिलाषा है जो अत्यन्त दयालु और स्वयं हमारे जीवन का वास्तविक आशय है। विनयभाव, ब्रह्म-ज्ञान का मूल और सामीप्य-स्थिति का नाम है, कहा भी गया है—

"सजदा करो और क़रीब हो जाओ।"

(क़ुरआन, सूरा-96 अलक़, आयत-19

विनयभाव और सजदा ही वास्तविक रूप से ऐसी महान और प्रिय सत्ता के सामीप्य का आशय हो सकता है। प्रेम और विनयभाव के साथ अल्लाह

की ओर अपना ध्यान बनाए रखना हमारे आन्तरिक जीवन का सौन्दर्य है। प्रेम, विनयभाव और विनम्रता का दुआओं में पूर्णतः प्रदर्शन होता है। नबी (सल्ल॰) का जीवन विनयभाव का जीवन था। आप बन्दगी के उच्चतम स्थान पर आरुढ़ थे। इसका अनुमान विशेष रूप से उन दुआओं से किया जा सकता है जो आपने अपने रब से माँगी है। आपकी दुआओं से मालूम होता है कि आपकी आत्मा कितनी अधिक अपने रब से सम्बद्ध थी और आपको कितनी अधिक अपने रब की महानता और तेज की अनुभूति प्राप्त थी। और अपनी और सम्पूर्ण विश्व की विवशता और अल्लाह की शक्ति, सामर्थ्य और उसकी व्यापक दयालुता पर आपको कितना विश्वास था। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि आपकी दुआएँ तत्वदर्शिता और ज्ञान की महान कृति हैं, ईश-ज्ञान और अल्लाह से आपके सच्चे और गहरे सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अल्लाह का ज़िक्र

अल्लाह की याद और उसका ज़िक्र वास्तव में इस्लाम का मूल आधार है, इसके बिना मनुष्य को वह जीवन प्राप्त ही नहीं होता जो इस्लाम का अभीष्ट है। अल्लाह का स्मरण और उसका ख़याल ही है जो मानव-जीवन को स्थायी रूप से अल्लाह और उसकी बन्दगी के साथ जोड़े रखता है। जिस प्रकार शारीरिक अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि साँस लेने की क्रिया का क्रम निरन्तर चलता रहे, ठीक उसी प्रकार हमारे नैतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि हम हर क्षण अल्लाह की ओर प्रवृत रहें। हमारी जिह्वा सदैव उसके नाम से पावन होती रहे। अल्लाह का ख़याल मन में कुछ इस तरह बस जाए कि वह हमारी चेतना से आगे अचेतना और अचेतन मन तक में उतर जाए और फिर हमारी गतिविधि, हमारी चाल-ढाल, हमारी बातचीत और हमारी ख़ामोशी, तात्पर्य यह कि हमारी हर चीज़ से इस बात का संकेत हो कि हम एक अल्लाह के बन्दे और उसके ग़ुलाम हैं। उसकी महानता का एहसास हमें ग़ाफ़िल और बेपरवाह होने से बाज़ रखे और उसकी ख़ुशी पाने की कामना हर क्षण हमें इस बात का जिज्ञासु बनाए रखे कि किस प्रकार से हम ज़्यादा-से-ज़्यादा अच्छे कर्म कर सकते हैं। हम कोई अच्छा कर्म करें तो हम अल्लाह के आभारी हों और कृतज्ञता दिखलाएँ। दुख और संकट के समय हम उसकी दयालुता के अभिलाषी हों। हर मुसीबत के समय उसी की ओर पलटें, गुनाह और बुराई का कोई मौक़ा सामने आए तो हम अल्लाह से डर जाएँ। हमसे कोई अपराध हो जाए तो तुरन्त उससे क्षमा चाहें। हर आवश्यकता और ज़रूरत के समय उससे दुआ माँगें। हर काम अल्लाह के नाम से करें। खाना खाएँ तो अल्लाह का नाम लेकर खाएँ, सोने जाएँ तो अल्लाह को याद करके सोएँ, सोकर उठें तो अल्लाह का नाम लेते हुए उठें। साधारण अवस्था में भी किसी-न-किसी बहाने से अल्लाह का नाम ज़बान पर आता रहे। यही वास्तव में इस्लामी जीवन की जान है।

इस्लामी जीवन की यह माँग है कि अल्लाह की याद आदमी की रग-रग में रच-बस गई हो। इस चिर-स्मरण के बिना हमारी वे इबादतें और उपासनाएँ भी जो विशेष समय में अदा की जाती हैं, कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखा सकतीं। इसी लिए क़ुरआन में केवल ज़िक्र की नहीं, बल्कि 'ज़िक्रे-कसीर' (अधिक स्मरण) की ताकीद की गई है। कहा गया है—

"ऐ ईमान लानेवालो! अल्लाह को अधिक याद करो।"

(क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-41

एक दूसरी जगह कहा गया—

"और अल्लाह को बहुत ज़्यादा याद करते रहो ताकि तुम सफल हो।" (क़ुरआन, सूरा-62 जुमुआ, आयत-10)

अल्लाह के ज़िक्र के इसी महत्व के कारण पूरे दीन (धर्म) को ज़िक्रे-रब कहा गया है—

"और यह कि यदि वे मार्ग पर ठीक-ठीक लग जाते तो हम उन्हें भली-भाँति जलसम्पन्न कर देते ताकि हम उसमें उनकी परीक्षा करें, और जो कोई अपने रब के ज़िक्र से मुँह मोड़ेगा तो वह उसे यातना में चढ़ाता चला जाएगा।"

(क़ुरआन, सूरा-72 जिन्न, आयतें-16,17)

ज़िक्र के इसी महत्व के कारण क़ुरआन में ईमानवालों को हुक्म दिया गया है कि वे अल्लाह को याद करते रहें—

"और अपने रब को प्रातःकाल और सन्ध्या समय याद करते रहो, अपने जी में गिड़गिड़ाते और डरते हुए और धीमी आवाज़ के साथ, और उन लोगों में से न हो जाओ जो ग़ाफ़िल हैं।

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-205)

अल्लाह के ज़िक्र से ग़ाफ़िल होने को हानि एवं घाटे का कारण बताया गया है—

"ऐ ईमानवालो! तुम्हारे माल तुम्हें अल्लाह की याद से ग़ाफ़िल न

करें और न तुम्हारी औलाद। और जो कोई ऐसा करेगा, तो ऐसे ही लोग घाटा उठानेवाले हैं।

(क़ुरआन, सूरा-63 आराफ़, आयत-9)

ईमानवालों के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया—

"और अल्लाह का बहुत अधिक ज़िक्र करनेवाले पुरुष और बहुत अधिक 'जिक्र' करनेवाली स्त्रियाँ,—अल्लाह ने उनके लिए क्षमा और बड़ा प्रतिदान तैयार कर रखा है।"

(क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-35)

कहा गया कि जो बन्दे मुझको याद करेंगे मैं भी उनको याद रखूँगा—

"(मेरे बन्दो!) मुझे याद करो मैं तुमको याद करूँगा, और मेरे कृतज्ञ बनो और कृतघ्नता न दिखाओ।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-152)

ज़िक्र को हृदय-परितोष का कारण बताया गया कि जो ईमानवाले हैं उनकी आत्मा को अल्लाह के ज़िक्र से ही शान्ति और सन्तुष्टि प्राप्त होती है—

"ये वे लोग हैं जो ईमान लाए और जिनके दिलों को अल्लाह के ज़िक्र से इत्मीनान हासिल होता है। सुन रखो! अल्लाह की याद से ही दिलों को शान्ति मिलती है।"

(क़ुरआन, सूरा-13 रअ्द, आयत-28)

इबादत से निवृत्ति के पश्चात विशेष रूप से अल्लाह के ज़िक्र की ताकीद की गई। इसमें इस बात की ओर संकेत है कि अल्लाह का ज़िक्र एक ऐसी इबादत है जिससे किसी दशा में निवृत्ति या अवकाश अपेक्षित नहीं। यह इबादत हर समय जारी रहनी चाहिए और इसे स्थायी रूप से जीवन का जाप बना लेना चाहिए।

"जब तुम नमाज़ अदा कर लो तो अल्लाह का ज़िक्र करो (हर दशा में) खड़े, बैठे और अपने पहलुओं के बल लेटे।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-103)

जुमा की नमाज़ के बारे में कहा गया—

"फिर जब (जुमा) की नमाज़ समाप्त हो जाए तो धरती में फैल जाओ और अल्लाह का फ़ज़्ल (रोज़ी) तलाश करो, और अल्लाह को अधिक याद करो ताकि तुम सफल हो जाओ।"

(क़ुरआन, सूरा-62 जुमुआ, आयत-10)

हज के बारे में कहा गया—

"फिर जब तुम अपने हज सम्बन्धी कर्मों से निवृत्त हो जाओ तो अल्लाह का ज़िक्र करो, जैसा कि तुम (गर्व से) अपने बाप-दादा का ज़िक्र करते थे, बल्कि उससे भी अधिक अल्लाह का ज़िक्र करो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-200)

क़ुरआन की कतिपय आयतों से ज्ञात होता है कि ऊँचे-से-ऊँचे कर्म और इबादतों का मूल तत्त्व और अभिप्राय अल्लाह का ज़िक्र और उसकी याद ही है। उदाहरणार्थ नमाज़ के बारे में कहा—

"मेरी याद के लिए 'नमाज़' क़ायम करो।"

(क़ुरआन, सूरा-20 ताहा, आयत-14)

हज सम्बन्धी इबादतों और कर्मों के बारे में नबी (सल्ल.) कहते हैं—

"अल्लाह के घर (काबा) का तवाफ़ और सफ़ा और मरवा के बीच सई और जमरात की रमी, ये सब चीज़ें अल्लाह के 'ज़िक्र' के लिए निश्चित हुई हैं।" (हदीस : अबू-दाऊद, तिरमिज़ी)

जिहाद के बारे में क़ुरआन करीम में कहा गया—

"ऐ ईमान लानेवालो! जब तुम्हारी मुठभेड़ किसी (दुश्मन के) गरोह से हो जाए तो (लड़ाई में) जमे रहो और अल्लाह को अधिक याद करो ताकि तुम सफल हो।"

(क़ुरआन, सूरा-8 अनफ़ाल, आयत-45)

सूझ-बूझवालों के बारे में कहा गया है कि उनका सोच-विचार अल्लाह की याद से ख़ाली नहीं होता। वे किसी दशा में अल्लाह से ग़ाफ़िल नहीं होते,

ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु उन्हें अल्लाह की महानता और उसके न्याय की याद दिलाती रहती है—

"निस्सन्देह आकाशों और धरती की बनावट में और रात-दिन के एक-दूसरे के लिए बारी-बारी से आने में बुद्धि रखनेवालों के लिए निशानियाँ हैं। वे (बुद्धि रखनेवाले) जो खड़े, बैठे और लेटे (प्रत्येक दशा में) अल्लाह को याद करते हैं और आकाशों और धरती की बनावट में सोच-विचार करते हैं, (और कहते हैं :) : हमारे रब! तूने ये सब व्यर्थ नहीं बनाया है। महिमा हो तेरी! अतः (ऐ रब!) तू हमें आग (जहन्नम) की यातना से बचा ले।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयतें-190,191)

अल्लाह का ज़िक्र और उसकी याद सारे कर्मों की जान है, इसके बिना सारे अमल बेजान हो जाते हैं। इसी बात को एक हदीस में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"मुआज़-बिन-अनस जुहनी कहते हैं कि एक व्यक्ति ने नबी (सल्ल०) से पूछा कि ऐ अल्लाह के रसूल! जिहाद करनेवालों में सबसे बढ़कर बदला पानेवाला कौन है? आप (सल्ल०) ने कहा : जो उनमें सबसे ज़्यादा अल्लाह को याद करनेवाला है। उसने कहा : रोज़ा रखनेवालों में सबसे ज़्यादा बदला पानेवाला कौन है? कहा : जो उनमें सबसे अधिक अल्लाह को याद करनेवाला है। फिर उस व्यक्ति ने इसी प्रकार नमाज़, ज़कात, हज और सदक़ा अदा करनेवालों के बारे में पूछा और अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने हर एक का यही उत्तर दिया कि जो उनमें सबसे अधिक अल्लाह को याद करनेवाला हो।" (हदीस : मुसनद अहमद)

अध्याय–3

नैतिकता का महत्व
और
समाज

नैतिकता का महत्व

नैतिकता को मानव-जीवन में जो महत्व प्राप्त है उससे किसी को इनकार नहीं हो सकता। इतिहास में किसी ऐसी सभ्यता का उदाहरण नहीं मिलता जिसमें सत्य और असत्य की सिरे से कोई कल्पना और धारणा ही न पाई जाती हो। जो लोग नियतिवाद (Determinism) के समर्थक हैं वे भी खुलकर इस बात का दावा नहीं कर सकते कि उनकी दृष्टि में झूठ और सच में या ईमानदारी और बेईमानी में कोई अन्तर नहीं है।

इससे कौन इनकार कर सकता है कि सच्चाई, शुभेच्छा और नियमबद्ध आचरण मानव के अपेक्षित गुण हैं। मानव की अन्तरात्मा के लिए यह कभी सम्भव नहीं हो सकता कि वह वचनबद्धता की तुलना में छल-प्रपंच को और त्याग और आत्मोत्सर्ग के स्थान पर स्वार्थपरता को और प्रेम और बन्धुत्व की तुलना में ईर्ष्या-द्वेष और अत्याचार को श्रेष्ठतर समझने लगे।

मानव से किसी विशेष प्रकार की नैतिकता की अपेक्षा रखने का अर्थ यह है कि हम मानव के संकल्प-स्वातंत्र्य में विश्वास करते हैं। इसलिए कि जहाँ कोई संकल्प और चुनाव की आज़ादी न पाई जाती हो वहाँ किसी चरित्र और नैतिकता का सवाल ही नहीं उठता। यह एक तथ्य है कि नैतिकता का सम्बन्ध मानव के संकल्प और चुनाव की आज़ादी से है। मानव को दुनिया में संकल्प और चुनाव की स्वतन्त्रता प्राप्त है, इसलिए उसका एक नैतिक अस्तित्व है। यही चीज़ है जो उसे अन्य जीवों की तुलना में विशिष्टता प्रदान करती है।

मानवीय चरित्र और उसके कर्म की कोई भौतिक व्याख्या सम्भव नहीं। चेतना को जड़ की उत्पत्ति समझना सत्य नहीं। जड़ पदार्थों का अध्ययन एक भौतिक शोध हो सकता है किन्तु भौतिक साधनों के द्वारा चेतना की व्याख्या किसी प्रकार नहीं की जा सकती। मैक्स प्लांक (Max Planck) ने कहा है—

"कोई व्यक्ति, चाहे कितना ही अक़्लमन्द क्यों न हो, मात्र

कारण-कार्य नियम के द्वारा अपने सचेतन कर्मों के निर्णायक प्रेरकों के सम्बन्ध में कभी भी सही परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। इसके लिए किसी अन्य नियम अर्थात् नैतिक नियमों की आवश्यकता है।"

(The Universe in the Light of Modern Physics)

मानव को संकल्पवान अस्तित्व समझने के लिए आवश्यक है कि मानव की स्थायी और स्वतन्त्र हैसियत को स्वीकार किया जाए। क्योंकि इसके बिना उसे नैतिक और चारित्रिक गुणों से सम्पन्न मानने का कोई औचित्य शेष नहीं रहता।

नैतिकता और चरित्र के लिए संकल्प और चुनाव की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त ऐसे वास्तविक, स्थायी और निरपेक्ष (Real, Permanet and Absolute) जीवन-मूल्यों की भी आवश्यकता है जो नैतिक नियमों का आधार बन सकें। जिनका मूल्य और महत्व सापेक्ष और अस्थायी न हो, बल्कि उनका मूल्य स्थायी और अपना स्वयं का हो, जिनकी सुरक्षा के लिए आदमी अपना सब कुछ क़ुरबान कर सके।

नैतिकता और परम अभीष्ट सत्ता

इसके अतिरिक्त मानव-जीवन में किसी उच्च नैतिक व्यवस्था की कल्पना उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक मानव का कोई ऐसा अभीष्ट न हो जो परम और अन्तिम हो, जिसकी ओर बढ़ने में हम अपने तमाम प्रयासों को लगाकर शान्ति पा सकें और जिस तक पहुँचने पर हमारी अपनी पूर्णता (Perfection) भी निर्भर करती हो। जीवन का कोई उच्च अभीष्ट और अभिप्राय ही आदमी को हर प्रकार की पथभ्रष्टता और बिखराव से बचाकर प्राकृतिक और स्वाभाविक मार्ग पर लगा सकता है। इसी की प्राप्ति का प्रयास मानव की सच्ची सफलता और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता की ज़मानत हो सकता है। इसके बिना हमारे जीवन में भी और विशेष रूप से हमारे आन्तरिक जीवन में सन्तुलन पैदा नहीं हो सकता। ऑस्पन्सकी (Ouspensky) ने लिखा है—

> "मानव जब तक अपने अन्तर्विरोधों में ऐक्य न उत्पन्न कर ले, उसे अपने-आपको 'मैं' कहने का कोई अधिकार नहीं। इसलिए कि इसके बिना उसका अपना कोई संकल्प ही नहीं है। जो व्यक्ति यह ऐक्य प्राप्त किए बिना अपने-आपको संकल्पवान समझता है तो यह उसकी भूल (Error) है। संकल्प परिणाम होता है इच्छाओं का। जिस व्यक्ति की इच्छाओं में ही स्थायित्व न हो उसकी हैसियत मात्र अपनी भावनाओं और बाह्य प्रभावों के खिलौने की होगी। उसे ख़बर नहीं हो सकती कि दूसरी ही साँस में वह क्या कह देगा और क्या कर गुज़ेरगा। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण पर आकस्मिकताओं (Chances) का परदा पड़ा होगा।"
>
> (The New Model of Universe)

नैतिकता और सत्य-ज्ञान

जीवन में आन्तरिक समायोजन का बड़ा महत्व है। आन्तरिक समायोजन के बिना समाज में भी किसी समायोजन और ऐक्य की आशा नहीं की जा सकती। रही समस्या नैतिक मूल्यों (Moral Values) की उपलब्धि की तो सत्यज्ञान के बिना यह स्वप्न कभी साकार नहीं हो सकता। राशडल (Rashdall) का यह विचार सत्यानुकूल है–

> "यह सम्भव नहीं कि सत्य के बारे में हमारा दृष्टिकोण नैतिकता की आधारभूत समस्याओं को प्रभावित न करे या हमारे नैतिक दृष्टिकोण से सत्य की हमारी अवधारणा प्रभावित न होती हो।"

सत्य की उपेक्षा करके किसी उच्च और दृढ़ नैतिक व्यवस्था की उपलब्धि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्थायी और निरपेक्ष नैतिक मूल्यों के लिए अनिवार्य है कि जीवन का अपना कोई वास्तविक लक्ष्य और उद्‌देश्य हो, इस जगत् को किसी महान उद्‌देश्य के तहत अस्तित्व में लाया गया हो और जगत् की समस्त वस्तुएँ उस उद्‌देश्य की प्राप्ति का साधनमात्र हों।

नैतिकता और जीवन की निरन्तरता

फिर इससे आगे बढ़कर किसी उच्च नैतिक व्यवस्था के लिए यह भी आवश्यक है कि मानव अपने जीवन की निरन्तरता पर विश्वास रखता हो। क्योंकि अगर हमारा जीवन चिरस्थायी नहीं तो चिरस्थायी मूल्यों से हमारा सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य है कि अगर लोगों का उद्देश्य केवल निकटस्थ हितों की प्राप्ति हो तो कभी भी उनके चरित्र में सन्तुलन पैदा नहीं हो सकता और न ऐसे लोगों द्वारा निर्मित समाज सुदृढ़ और मज़बूत हो सकता है।

मैकेनज़ी (Mackenzi) ने नैतिक समस्याओं पर विचार करते हुए लिखा है—

> "जब हम कहते हैं कि नैतिकता के अध्ययन का सम्बन्ध ऐसे मानव-चरित्र से है जो सत्य और मंगल हो, तो इससे हमारा अभिप्राय यह है कि उसका सम्बन्ध इस दृष्टिकोण से होता है कि हमारा व्यवहार (Conduct) किसी ऐसे अन्तिम लक्ष्य या आदर्श के लिए लाभप्रद होता है जो हमारे समक्ष हो और उसका सम्बन्ध उन क़ानूनों और सिद्धान्तों से होता है जिनके मार्गदर्शन में हमारा चरित्र उस अभीष्ट या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सही दिशा अपनाता है। यूँ तो विभिन्न उद्देश्यों के लिए हम कार्य करते हैं, जैसे मकान बनाना, पुस्तक लेखन आदि, लेकिन नैतिकता में चरित्र का अध्ययन उसके समग्र रूप में (As a whole) ही अपेक्षित है। यह किसी विशिष्ट प्रकार के चरित्र का अध्ययन कदापि नहीं है। यह विभिन्न उद्देश्यों में से किसी एक से विशेष सम्बन्ध नहीं रखता जो उसके समक्ष हो, बल्कि उसका सम्बन्ध उस बड़े और अन्तिम लक्ष्य से है जो हमारे पूरे जीवन के लिए मार्गदर्शन सिद्ध होता है। उस अन्तिम लक्ष्य को सामान्यतः 'परम शिव (Absolute Good)' कहा जाता है।"
>
> (A Manual of Ethics, p.2)

दुनिया में सर्वाधिक आदरणीय और मूल्यवान वस्तु वह है जिसे यूनान के लोगों ने नाउस (Nous) या नोएटिक नाउस (Noetic Nous) कहा है। जिसको अरबी भाषा में 'नफ़्स' या 'नफ़्से-नातिक़ा' कहते हैं। इसी को भारत में आत्मा कहा गया है। आत्मा का पदार्थ से अलग अपना स्वतन्त्र स्थायी अस्तित्व है और कई पहलुओं से जगत् में उसे उच्चता प्राप्त है। जगत् में केन्द्रीय महत्व आत्मा का है। जगत् के सम्पूर्ण सौन्दर्य और आकर्षण की चेतना आत्मा के द्वारा होती है। इसी के कारण जगत् में अर्थवत्ता उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण जगत् का मूल और सार-तत्व आत्मा ही है। जगत् में जो वस्तुएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं वे आत्मा की सम्भावनाओं के सिवा और कुछ नहीं। आत्मा ही वह दीपक है जिसका प्रकाश चतुर्दिक फैला हुआ है। जब वास्तविक परिस्थिति यह है तो स्पष्ट है कि जगत् की कोई भी वस्तु मानव आत्मा की अभीष्ट नहीं हो सकती। आत्मा का अभीष्ट वही होगा जो उससे उच्चतर और महत्तर हो। इसलिए अनिवार्यतः मानवीय आत्मा का अभीष्ट और अन्तिम लक्ष्य एक परम आत्मा (Supreme and Absolute Personality) ही हो सकती है। हम यह स्वीकार कर सकते थे कि आत्मा प्रत्येक दृष्टि से स्वयं अपनी साध्य और अभीष्ट है लेकिन इसमें कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनका हल सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ अपने समस्त गुणों और चमत्कारों के बावजूद आत्मा स्वयंभू नहीं, अर्थात ऐसा नहीं है कि कोई उसका स्रष्टा न हो। ऐसा अगर होता तो वह अपने-आपमें पूर्ण (Perfect in his Personality) होती। उसे स्वयं का पूरा ज्ञान होता, उसके लिए पथभ्रष्ट होने की सम्भावना ही न होती और उसके पूर्णता को प्राप्त करने का सिरे से कोई प्रश्न ही न उठता।

अगर आत्मा के अभीष्ट लक्ष्य को हम व्यक्तिहीन मानें तो इस रूप में वह मानवीय आत्मा की अपेक्षा निम्नतर कोटि की होगी और उसे कोई भी आत्मा का अभीष्ट नहीं मान सकता। इसलिए अनिवार्यतः अपना लक्ष्य और अभीष्ट कोई परम सत्ता (Absolute Personality) ही हो सकती है। और यह वही सत्ता है जिसको दुनिया ईश्वर, अल्लाह या God आदि नामों से जानती और पहचानती है। ईश्वर ही वास्तव में सभी सत्यों का स्रोत और हमारे

अस्तित्व का वास्तविक केन्द्र बिन्दु है। सारांश यह कि एक श्रेष्ठतम नैतिक आदर्श की कल्पना परम सत्ता के बिना सम्भव नहीं और न पारलौकिक जीवन पर ईमान लाए बिना जीवन की निरन्तरता की गुत्थी सुलझती है जिससे नैतिक मूल्यों की उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त होता है।

नैतिकता, भौतिकवाद और वैश्विक अर्थवत्तापूर्ण नियम

मानव के लिए किसी ऐसी नैतिक व्यवस्था की अवधारणा, जिसका आधार भौतिकवाद के बजाय वैश्विक अर्थवत्तापूर्ण नियमों पर हो, कोई ऐसी अवधारणा नहीं है जिससे हमारा जीवन कोई सामंजस्य न रखता हो। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने हर सांसारिक मामले में कोई-न-कोई अर्थवत्तापूर्ण दृष्टिकोण रखने पर मजबूर है। इनसान अचेतन रूप में केवल यांत्रिक रूप से कोई कार्य नहीं करता। उसके प्रत्येक कार्य के पीछे उसका ज्ञान और संकल्प कार्यरत होता है। परिणामदर्शिता उसका स्वभाव है। विशुद्ध भौतिकवाद के पास इन सवालों का कोई जवाब नहीं है कि कोई व्यक्ति नैतिक नियमों के अनुसार कर्म क्यों करे? अपने निकटतम हित को छोड़कर दूसरों के काम क्यों आए? कमज़ोरों और पीड़ितों के साथ हम सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार क्यों करें? इसमें सन्देह नहीं कि भौतिकवाद के झंडावाहकों में ऐसे लोग भी मिलते हैं जिन्होंने क़ुरबानियाँ दी हैं। दरिद्रों, मुहताजों और मज़लूमों के समर्थन में वे सक्रिय रहे हैं, लेकिन उनकी यह कार्यशैली उनके मौलिक सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती। निश्चय ही यह भौतिकता का नहीं भौतिकता से परे किसी और चीज़ का प्रभाव था जो उनके मन के किसी कोने मे छिपा रहा है।

मौलिक आवश्यकता

नैतिक मूल्यों की प्राप्ति मानव की मौलिक आवश्यकता है। नैतिकता ही वह मूल्यवान तत्त्व है जिसके द्वारा आध्यात्मिक, भौतिक और सौन्दर्यात्मक (Aesthetic) मूल्यों में समायोजन और समरसता उत्पन्न की जा सकती है। इसी के द्वारा समाज में पाए जानेवाले अन्तर्विरोध पारस्परिक सामंजस्य में परिवर्तित हो सकते हैं। नैतिकता ही वह शक्ति है जिससे मानव-जीवन उस सत्य के साथ जीवन का तारतम्य स्थापित करता है जो परिवर्तनों से परे है।

सत्य के साथ यही समन्वय और समरसता है जिसको विचारकों ने वास्तविक स्वतन्त्रता और सत्य की उपलब्धि से अभिव्यंजित किया है।

भौतिकता या नैतिकता

भौतिकवाद के पक्षधर पदार्थ ही को सब कुछ समझते हैं। उनकी दृष्टि में यहाँ जो कुछ भी है वह मात्र भौतिक पदार्थों का चमत्कार है। उदारहरणार्थ कतिपय भौतिकवादियों का मत यह है कि अर्थव्यवस्था की संरचना ही में मानव-जीवन का सम्पूर्ण रहस्य निहित है। धर्म और नैतिकता, सभ्यता और संस्कृति सब आर्थिक परिस्थितियों की पैदावार हैं। वस्तुतः यथार्थ का यह अत्यन्त सतही अध्ययन है। मार्क्स और उसके अनुयायी कम-से-कम मनोविज्ञान और मानवशास्त्र ही से परिचित होते तो मनोविज्ञान उन्हें बताता कि उत्पादन के साधन मानव-मस्तिष्क की क्रियाओं और प्रविधियों की व्याख्या में सर्वथा असफल हैं। मानव-मन उत्पादन के साधनों को अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग करता है और उनपर प्रभाव डालता है। मानव-विज्ञान उन्हें इस बात से परिचित कराता कि मानवीय आत्मा मात्र भ्रम या भ्रम की निर्मिति नहीं है, बल्कि मानव संस्कृति के उद्भाव और विकास में वस्तुतः आत्मा ही अपने को व्यक्त करती है। भौतिक साधनों को वही काम में लाती है और उनसे काम लेकर विभिन्न शैलियों की रचना करती है। विभिन्न शैलियों में उसी की अभिव्यक्ति होती है।

स्वयं यह जगत् मात्र उपादेयता (Utility), अर्थात् जिससे हमारे भौतिक हित जुड़े होते हैं, को ही व्यक्त नहीं करता। इस जगत् में दूसरे अन्य ध्यान देने योग्य संकेत पाए जाते हैं जो उपयोगिता और उपादेयता से श्रेष्ठतर हैं, जिनकी उपेक्षा करते हुए जगत् की जो भी व्याख्या की जाएगी दोषपूर्ण और ग़लत होगी। जगत् अर्थमय है और जीवन की अपनी अर्थवत्ता है जिसे जानने में भौतिकवाद नितान्त असमर्थ है। जगत् में स्पष्टतया किसी उच्च और श्रेष्ठ सत्ता का ज्ञान और संकल्प कार्यरत प्रतीत होता है। जगत् में किसी के संकल्प और ज्ञान के कार्यरत होने का स्पष्ट अर्थ यह है कि यहाँ समस्त क्रियाशीलता नैतिकता की है। ज्ञान और संकल्प की अभिव्यक्ति सदैव

नैतिकता के साथ होती है। उदाहरणार्थ आप देखेंगे कि मानव की आवश्यकताओं और जगत् द्वारा उपलब्ध कराई जानेवाली वस्तुओं में अत्यन्त गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। शरीर को बनाए रखने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उन सबको मानव अपने आसपास जगत् में विद्यमान पाता है। ये बहती नदियाँ, जलस्रोत और मैदान, ये विभिन्न प्रकार के वृक्ष और जानवर, ये फल-फूल और खेतियाँ मानव की प्राकृतिक अपेक्षाओं और आवश्यकताओं के उत्तर हैं। इन्हें स्रष्टा की अनुकम्पा के सिवा किसी और चीज़ से अभिव्यंजित नहीं किया जा सकता। ये चीज़ें, जिन्हें हम अपने चतुर्दिक देखते हैं, वास्तव में ईश्वरीय स्वभाव ही के जीवन्त प्रतीक हैं। यह इस बात का खुला प्रमाण है कि जगत् में वास्तव में भौतिकता नहीं, बल्कि नैतिकता कार्यरत है।

नैतिक कार्यशीलता की इससे भी ज़्यादा साफ़ और स्पष्ट तस्वीरें मौजूद हैं लेकिन मानव उनकी ओर बहुत कम ध्यान देता है। आप जानते हैं कि बच्चे के पालन-पोषण में वास्तविक भूमिका माता-पिता या सगे-सम्बन्धियों के उस वात्सल्य और प्रेम की होती है जो उन्हें बच्चे से होता है। यह नैतिकता का चमत्कार है न कि विशुद्ध भौतिकता का। इसी प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर अगर हमें सौन्दर्यबोध प्रदान किया गया है तो दूसरी ओर जगत् की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य पाया जाता है। इसे मात्र भौतिक तत्वों की करामात ठहराना और इसी पर सन्तुष्ट होकर रहना बौद्धिक और वैचारिक आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं। मार्क्स और दूसरे भौतिकवादी इस तथ्य को समझने में असमर्थ हैं कि जीवन को जड़ और भौतिक पदार्थों पर श्रेष्ठता प्राप्त है। एक श्रेष्ठतर वस्तु अपने से निम्नतर के अधीन क्योंकर हो सकती है। जीवन चेतना और अनुभूतियों से भरी एक आबाद दुनिया है जिसका स्रोत कोई चैतन्य और परम सत्ता ही हो सकती है, और केवल वही सत्ता जीवन का अभीष्ट और अभिप्राय हो सकती है। ईश्वर को अपने जीवन से विलग करके न केवल यह कि मानव ईश्वर के अधिकारों को नज़र-अन्दाज़ कर देता है, बल्कि उसकी यह नीति स्वयं उसके अपने विरुद्ध भी है, क्योंकि इस प्रकार वह अपनी हैसियत को गिरा देता है।

इस बात को एक मिसाल के द्वारा समझा जा सकता है। हमारे शरीर के समस्त अवयव हाथ, पैर आदि देखने में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं किन्तु सत्य यह है कि इनकी हैसियत जो कुछ है वह हमारे व्यक्तित्व के सापेक्ष है। अगर हमारे हाथ और पैर हमारे व्यक्तित्व के अधीन न हों तो उनका अस्तित्व निरर्थक होकर रह जाए। शारीरिक व्यवस्था में केन्द्रीय महत्व हमारे व्यक्तित्व को प्राप्त है। इसलिए हमारे समस्त अवयव अपनी हैसियत को बनाए रखने के लिए प्रति क्षण हमपर निर्भर करते हैं। ठीक इसी प्रकार हमारी वास्तविक हैसियत का निर्धारण ईश्वर की ओर से होता है। इस सम्बन्ध और सम्पर्क के बिना हमारी हालत एक ऐसे हाथ-पैर की रह जाती है जिसको शरीर से काटकर फेंक दिया गया हो। ऐसे कटे हुए हाथ-पैर और मिट्टी के ढेर में कोई मौलिक अन्तर शेष नहीं रहता। मानव यह तो समझता है कि हाथ या पैर का शरीर से कटकर अलग होना उसके लिए घातक है, किन्तु अपनी दृष्टिहीनता के कारण वह उस घातक परिस्थिति को महसूस करने में सामान्यतः असमर्थ रहता है जिसमें वह ईश्वर से अलग होकर जा पड़ता है।

नैतिकता बोझ नहीं

नैतिकता मानव के लिए कोई अप्रिय बोझ कदापि नहीं है। रंग और सुगन्ध फूलों पर बोझ नहीं। परिन्दों के पंख परिन्दों के लिए कभी भार नहीं होते, बल्कि ये पर उनकी शोभा भी हैं और उड़ान में उनके सहायक भी। यही हाल फूलों के रंग और गन्ध और आँखों की पलकों का भी है। मानव-जीवन में भी वास्तविक सौन्दर्य नैतिकता ही से उत्पन्न होता है। नैतिकता से वंचित हो जाने के बाद मानव के पास कोई मूल्यवान वस्तु शेष नहीं रहती। नैतिक अपेक्षाएँ हमारी प्रकृति और स्वभाव को ही दर्शाती है।

नैतिकता वास्तव में एक वैश्विक और व्यापक नियम का नाम है। वही हमारे आन्तरिक जीवन का भी नियम है। नैतिकता ही है जिसके द्वारा मानव के आन्तरिक जीवन में सन्तुलन और उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सामंजस्य और एकात्मता उत्पन्न हो सकती है। यही वह वैश्विक

नियम है जिसे हम जगत् की व्यवस्था में भी देखते हैं। जगत् की समस्त वस्तुएँ एक सही और स्वाभाविक नियम के अधीन हैं जिसके पीछे ईश्वर का संकल्प क्रियाशील है। इसे स्वीकार करने पर आज बड़े-बड़े चिन्तक अपने को विवश पाते हैं। उन्हें यह मानना पड़ा है कि यह जगत् किसी मशीन के बजाय मन से अधिक सादृश्यता रखता है।

इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक जीवन-दर्शन उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में अपने यौवन पर था। किन्तु बीसवीं शताब्दी में स्वयं यूरोप के कितने ही विचारकों और वैज्ञानिकों को नए अनुसन्धानों और शोधकार्यों के पश्चात् अपनी धारणा को बदलना पड़ा है। जे॰बी॰एस॰ हाल्डेन ने लिखा है कि जीवन की समस्या को भौतिक और रासायनिक समस्या समझना ग़लत है। जीवन और मानव व्यक्तित्व (Personality) का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि विश्व की मात्र भौतिक व्याख्या सम्भव नहीं।

(Prof. J.B.S. Haldane in The Philosophical Basis of Biology)

विज्ञान ने अब हमें ऐसे स्थान पर ला खड़ा किया है कि जहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक यह स्वीकार करने लगे हैं कि विश्व में जो कुछ भी दिखाई देता है वह वस्तु (Thing) सिरे से है ही नहीं, बल्कि केवल कार्य है या घटनाओं (Events) का भवन है (Quoted by Iqbal in his Lectures)। इससे इस बात को अतिरिक्त बल मिलता है कि यह जगत् अन्धे-बहरे भौतिक पदार्थ की संरचना नहीं, बल्कि इसका अस्तित्व-स्रोत कोई मन और संकल्प है। दूसरे शब्दों में जगत् ईश्वरीय रचनाकर्म की अभिव्यक्ति है। मानव का दायित्व है कि वह अपने संकल्प और कर्म-स्वातन्त्र्य की दुनिया में अपने प्रभु का आज्ञापालन करे। क़ुरआन में कहा गया है—

"निश्चय ही मेरा प्रभु सीधे रास्ते पर है।"

(क़ुरआन, सूरा-11 हूद, आयत-56)

मतलब यह है कि ईश्वर का कोई कार्य न्याय, तत्त्वदर्शिता और सत्य के विरुद्ध नहीं हो सकता। उसने सत्य और शिवम् (Good) के अन्तर्गत जगत् की रचना की है। हमें संकल्प और कर्म-स्वातन्त्र्य प्रदान करने से भी

जो चीज़ अभीष्ट है वह सत्य और शुभ के सिवा कुछ और नहीं हो सकता। मानव का कल्याण और उसकी सफलता उसके अन्तःकरण की शुद्धि पर निर्भर करती है। ज़ाहिर (बाह्य) और बातिन (अन्तर) को 'ख़ल्क़' (Creation) और 'ख़ुल्क़' (शील) से अभिव्यंजित किया जाता है। कहते हैं "फ़ुलानुन हुस्नुल ख़ुल्क़ वल-ख़ल्क़" अर्थात "अमुक का अन्तर भी अच्छा है और बाह्य भी।" बाह्य को यदि हम आँख से देखते हैं तो अन्तर या आत्मा का बोध अंतदृष्टि के द्वारा होता है। बाह्य हो या अन्तर हरेक का अपना एक विशिष्ट रूप और आकार होता है। यह रूप और आकार अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। ख़ुल्क़ (शील) या मन का सुदृढ़ रूप ही है जिससे कर्मों का संचालन होता है। अगर हमसे अच्छे कर्म होते हैं तो यह इस बात का संकेत है कि हमारा अन्तर्मन अच्छा है। इसी को सुशीलता से अभिव्यंजित करते हैं। मनुष्य के स्वभाव, प्रवृत्तियों और अभिरुचियों से उसके आन्तरिक रूपाकार का भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है। किसी की प्रवृत्ति और अभिरुचि को उसके चरित्र और व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता। रस्किन (Ruskin) ने ग़लत नहीं कहा है कि अभिरुचि वास्तव में नैतिकता का कोई अंग या शाख़ा नहीं, बल्कि स्वयं अभिरुचि ही नैतिकता है। किसी को जाँचने के लिए पहला और अन्तिम सवाल जो उससे कर सकते हैं वह यही है कि उसे क्या पसन्द है? आदमी की पसन्द और नापसन्द से यह भेद खुल जाता है कि स्वयं वह आदमी क्या है।

नैतिकता के अध्ययन में सत्य, सुन्दर और शिव (Truth, Beauty and Goodness) को मौलिक महत्व दिया जाता है। इनका सम्बन्ध वास्तव में हमारे ज्ञान, अनुभव और कर्म से है। अगर आदमी सत्य के अनुसन्धान में असफल रहा तो वास्तव में वह सत्यज्ञान (True Knowledge) से वंचित है। उसका जीवन अगर एक सौन्दर्यानुभव में न ढल सका तो उसके एहसास (Feeling) की दुनिया वीरान ही रही। इसी प्रकार अगर वह 'शिवम्' को समझने में सफल न हो सका तो व्यावहारिक रूप से वह सर्वथा घाटे में रहा।

मानव का यह स्वभाव है कि वह जानना चाहता है कि सत्य और यथार्थ (Reality) क्या है? वह उन वस्तुओं को महत्व देता है जिनमें सौन्दर्य और

गुणवत्ता हो। इसी प्रकार वह उस कर्म को अपनाना चाहता है जिसमें शिवम् निहित हो। साधारण अध्ययन में केवल मानव-व्यवहार का अध्ययन ही नैतिकता के अन्तर्गत किया जाता है। सत्य की उपलब्धि को दर्शन का विषय निश्चित किया गया है और सौन्दर्य तथा गुणवत्ता को सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) के तहत रखा गया है। लेकिन जीवन के इन तीनों मूल्यों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, सत्कर्म को ज्ञान से अलग नहीं कर सकते। जो कर्म ज्ञान के अनुसार न हो वह पथभ्रष्टता है। सुक़रात ने कहा है—

"Virtue is a kind of knowlege."
"सत्कर्म ज्ञान ही का एक प्रकार है।"

सुक़रात का अभिप्राय यह है कि नैतिक दायित्वों के परिणाम अगर हम पर पूर्णरूपेण स्पष्ट हों तो अनिवार्यतः हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। अनुचित नीति स्वयं अपने विरुद्ध एक अनुचित प्रयास है। अपने विरुद्ध कोई क़दम उठाकर कोई अपनी सुरक्षा के दायित्व का निर्वाह कैसे कर सकता है?

नैतिकता या सौन्दर्य

नैतिकता से सौन्दर्यबोध को भी अलग नहीं कर सकते। अरस्तू (Aristotle) के दृष्टिकोण के अनुसार नैतिक जीवन स्वयं उसके अपने सौन्दर्य के कारण ही स्वीकार्य होता है—

"Only Beauty is good."
"सौन्दर्य ही शुभ है।"

सौन्दर्य का सम्बन्ध मात्र शरीर से ही नहीं है। नैतिक दृष्टि से भी कुछ चीज़ें सुन्दर (Morally Excellent) होती हैं। कांट (Kant) के शब्दों में वे हीरे की तरह स्वयं अपनी रौशनी से चमक रही होती है। वे उस वस्तु की तरह होती है जिसका मूल्य स्वयं उसके अपने अस्तित्व से स्थापित होता है।

नैतिकता और आनन्द

आनन्द (Pleasure) का भी नैतिकता से गहरा रिश्ता होता है। सही कार्यशैली से सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह प्रसन्नता मात्र आध्यात्मिक नहीं होती, बल्कि बौद्धिक और हार्दिक होती है और साथ-ही-साथ सौन्दर्य-बोध से भी इसका सम्बन्ध होता है। इसी लिए कहा गया है–

"Virtue is its own reward and vice is its own punishment."

"सत्कर्म अपना प्रतिदान स्वयं है और अपकर्म अपना दंड स्वयं है।"

नैतिकता और मनुष्य की पूर्णता

नैतिकता ही के द्वारा मनुष्य की पूर्णता सम्भव है। पूर्णत्व की उपलब्धि नैतिकता के बिना असम्भव है। ये और इस प्रकार के विचार जिन्हें विभिन्न विचारकों ने प्रस्तुत किए हैं, इनके द्वारा वास्तव में जीवन ही के विभिन्न पहलुओं और मूल्यों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। नैतिकता के द्वारा जीवन का निर्माण होता है। नैतिकता जीवन को एक स्वरूप (Form) देती है। नैतिक मूल्यों का आदर जीवन के समस्त क्षेत्रों में अपेक्षित है।

नैतिकता में दार्शनिकों ने अपना प्रमुख दायित्व यह समझा है कि वे जीवन के परम लक्ष्य की खोज करें। अफ़लातून (Plato) और अरस्तू से लेकर स्पिनोज़ा, कांट, हीगल और ग्रीन तक सभी ने इस सम्बन्ध में अपने दायित्व के निर्वाह का प्रयास किया है। परम लक्ष्य के निर्धारण के बाद मानव का दायित्व स्वतः निर्धारित हो जाता है और इसकी अनिवार्यता अपने-आप ही सिद्ध हो जाती है। इसी परम लक्ष्य के सन्दर्भ में मानव का पूरा जीवन अपना एक स्वरूप और आकार ग्रहण कर लेता है। चिन्तकों को उनके प्रयास ने यहाँ तक पहुँचा दिया है कि वे यह मानने पर बाध्य हुए हैं कि जीवन के परम लक्ष्य (Ultimate Goal) का मानव के वर्तमान जीवन से इतना निकट सम्बन्ध है कि वर्तमान जीवन और अस्तित्व को उससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। जीवन उसी में प्रविष्ट और सम्मिलित है। नीतिशास्त्र के दार्शनिकों का काम केवल यह है कि वे इस तथ्य को इस सीमा तक स्पष्ट

और लोगों की दृष्टि में इतना उजागर कर दें कि साधारण मानवीय चेतना भी इसे ग्रहण कर सके।

जहाँ तक विधि-विधान या क़ानून की बात है तो इस विषय में यह स्वीकार किया गया है कि नैतिकता और चरित्र का स्तर जब उच्च हो जाता है तो नैतिक नियम और सिद्धान्त मानव के लिए अजनबी नहीं रहते, बल्कि वे उसकी अपनी ही चेतना और अनुभूति का एक मूर्त रूप सिद्ध होते हैं। आदमी जिस चीज़ को अपने दिल की गहराई में पा रहा हो उसे धारण करने के लिए किसी बाह्य नियम और सिद्धान्त के दबाव की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे क़ानूनों और सिद्धान्तों के पालन का अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं कि आदमी स्वयं अपने साथ विश्वासघात न करे, वह स्वयं अपने लिए सच्चा हो।

"To Thine yourself Be true."
"तुम अपने प्रति सच्चे बनो।"

नैतिक नियमों का विरोध स्वयं अपना विरोध है।

नैतिकता और मानव-समाज

मानव-समाज से आदमी का गहरा सम्बन्ध होता है। वह अपने समाज का एक अंग होता है। विभिन्न व्यक्तियों से मिलकर समाज का निर्माण होता है। आदर्श व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति समाज के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिए सामाजिक दायित्वों को मानवीय नैतिकता से अलग करके नहीं देखा जा सकता। नैतिकता की सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण धारणा वही है जिसमें मानव के व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण का रहस्य निहित हो, जिससे कठिनाइयाँ सरल होती हों, उलझी हुई समस्याओं का अन्त हो जाता हो और हमारे मन-मस्तिष्क को शान्ति और आनन्द प्राप्त होता हो और जिसके द्वारा धरती अत्याचार और उपद्रव से मुक्त होती हो। ब्रिफ़ोल्ट (Briffault) का ध्यान इस ओर गया है। वह कहता है—

"आदर्श नैतिकता का कैसा ही भव्य भवन आप निर्माण कर लें, अगर वह असत्य को मिटाकर उसकी जगह सत्य को स्थापित

करने में असमर्थ है तो वह निरर्थक चीज़ है। इस बाह्य भवन को नैतिकता का भवन नहीं कहा जा सकता।"

(The Making of Humanity)

नैतिकता और धर्म

नैतिकता के महत्व और उसके विभिन्न पक्षों की चर्चा के बाद यह प्रश्न शेष रहता है कि मानव अपनी आचार-संहिता और नैतिक व्यवस्था के लिए ऐसे स्पष्ट नियम और क़ानून कहाँ से प्राप्त करे जिनका पालन सबके लिए अनिवार्य हो, जिसके सत्य और श्रेष्ठ नैतिक व्यवस्था होने में किसी को सन्देह न हो सके। मानव-विज्ञानों में नियमबद्धता सुस्पष्ट नियमों के बिना सम्भव नहीं और न इसके बिना मानव विचार को विक्षिप्तता और बिखराव से बचाया जा सकता है।

इस प्रश्न का सही उत्तर केवल धर्म के पास है। मानव विचार के सामने नैतिकता की प्राकृतिक माँगें तो उभर सकती हैं किन्तु धर्म के सहयोग के बिना परिपूर्ण और विश्वासयोग्य आचार-संहिता देने में वह सर्वथा असमर्थ है। धर्म के अतिरिक्त दूसरे स्रोत चाहे वे मनोविज्ञान और अन्तःप्रवृत्तियाँ हों या अनुभव और अनुभूतियाँ, ये मूल स्रोत के केवल सहायक हो सकते हैं। इन्हें मूल स्रोत की हैसियत प्राप्त नहीं हो सकती। मात्र आंशिक सत्यों के ज्ञान से एक सर्वोच्च और सुदृढ़ नैतिक व्यवस्था की रचना कैसे सम्भव हो सकती है? एक निश्चित और अनिवार्यतः पालनयोग्य क़ानून की आवश्यकता का एहसास तो कांट (Kant) को भी हुआ है लेकिन वह इसकी कोई स्पष्ट व्याख्या करने में असमर्थ दिखाई देता है।

नैतिकता के विषय में भलाई और बुराई या शुभ और अशुभ की सत्य धारणा का प्रश्न सामने आता है। किन्तु इसके हल करने में हमारा आनुभविक और अन्तःपरक ज्ञान अपर्याप्त सिद्ध होता है। बुद्धि इस सम्बन्ध में दूर तक हमारा साथ नहीं देती। नैतिकता की पृष्ठपोषक शक्ति और प्रेरणाओं के बारे में मानव-विचार और चिन्तन ने जो चीज़ें प्रस्तावित की हैं उन्हें नकारा नहीं जा सकता, किन्तु धर्म का मार्गदर्शन न हो तो इन

चीज़ों की हैसियत स्पष्ट नहीं होती और न इन्हें कोई सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है।

इस सम्बन्ध में जब हम इस्लाम का अध्ययन करते हैं, जो पूर्ण, प्रामाणिक और ईश्वर-प्रदत्त अन्तिम धर्म है, तो हमें उन सारे ही प्रश्नों का समुचित और सन्तोषजनक उत्तर मिल जाता है जो नैतिकता के अध्ययन में उभरकर हमारे सामने आते हैं। यहाँ हमें शुभ और अशुभ, नेक और बद, सही और ग़लत का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ स्पष्ट शब्दों में बता दिया गया है कि ज्ञान का मूल स्रोत ईश्वरीय ग्रन्थ और उसका मार्गदर्शन है। ईश्वर ने जो नैतिक नियम प्रदान किए हैं उनके अनिवार्यतः पालन योग्य होने के लिए यही आधार पर्याप्त है कि वे ईश्वर की ओर से हैं। मानव के लिए जो परम लक्ष्य अपेक्षित है वह ईश्वर और उसकी प्रसन्नता के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ नहीं हो सकती। ईश्वरीय सत्ता ही वह परम आत्मा और पूर्ण सत्ता है जिसे मानव का अन्तिम लक्ष्य और आश्रय कहा जा सकता है। अगर ईश्वरीय सत्ता के अतिरिक्त किसी और चीज़ को हम जीवन और जगत का अभिप्राय और प्रयोजन बताते हैं तो यह सत्य के प्रतिकूल और मानव पर अत्याचार होगा। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मानव को दूसरी समस्त चीज़ों के मुक़ाबले में श्रेष्ठता और उच्चता प्राप्त है इसलिए उसका अभीष्ट कोई ऐसी चीज़ कदापि नहीं हो सकती जो व्यक्तित्व (Personality) के गुण से रहित हो। इसलिए अनिवार्यतः मानवीय अनुभवों और भावनाओं और उसके प्रयासों की दिशा ईश्वर ही की ओर होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि तारे आसमान में देर तक चमकते हैं। चाँद हमारी अँधेरी रातों को रौशन कर देता है और सूर्य से प्रकाश और उष्मा प्राप्त होती है, किन्तु हमारे अन्तर के लिए इनके पास कोई प्रकाश नहीं है और न हमारे पास दिल की गहराइयों में छिपी उमंगों के लिए इनके पास कोई गर्मी है। जगत् में जो भी है ईश्वर पर आश्रित और उसका मुहताज है। इसलिए उसके सिवा कोई नहीं जो हमारे जीवन और हमारे प्रयासों का केन्द्र बिन्दु बन सके।

मानव के लिए स्पष्ट कल्याण और भलाई की बात यह है कि वह उस

परीक्षा में सफल हो जिससे वह दुनिया में दोचार है। जो रीति इस कल्याण को पाने में सहायक हो वही सही है और जो नीति इस कल्याण की प्राप्ति में सहायक न हो सके, बल्कि इस मार्ग में रुकावट बने, वह ग़लत है। ईश्वरीय मार्गदर्शन ही ज्ञान का वास्तविक स्रोत है। ईश्वर का प्रेम, उसकी प्रसन्नता और रज़ामन्दी की चाह और उसकी अप्रसन्नता और नाराज़ी से बचने की चिन्ता, नैतिक व्यवहार की पाबन्दियों और अनैतिकता से बचने के लिए मूल प्रेरक है। ईशज्ञानी व्यक्तियों से मिलकर जो समाज और कल्याणकारी राज्य अस्तित्व में आता है, जिसका निर्माण ईश्वरप्रदत्त क़ानूनों की रौशनी में आता है, उसके अन्दर स्वयं ईश्वरीय नैतिक व्यवस्था की स्थापना की क्षमता होती है। फिर क़ानून के पालन के लिए दायित्वबोध भी पूर्णतया कार्यरत हो उठता है और सत्य से प्रेम और असत्य से घृणा की भावना भी इस सम्बन्ध में एक प्रेरक है।

इस्लाम आंशिक सच्चाइयों का निषेध नहीं करता। वे सभी इस्लाम की नैतिक व्यवस्था में निहित दिखाई देती हैं। वे विच्छिन्न अंशों के रूप में या अपूर्ण दशा में मौजूद हों, इसके बजाय इस्लाम उनके लिए सुदृढ़ आधार उपलब्ध कराता है। इस्लाम पूर्णत्व प्राप्ति की इच्छा का, जिसे मानव-विचार और चिन्तन की दृष्टि में एक नैतिक प्रेरक की हैसियत प्राप्त है, निषेध नहीं करता, बल्कि इस्लाम ने इसके महत्व की पुष्टि की है। क़ुरआन में है—

> "तसबीह (महिमागान) करो अपने सर्वोच्च रब के नाम की जिसने पैदा किया, फिर ठीक-ठाक किया, जिसने निर्धारित किया, फिर मार्ग दिखाया, जिसने वनस्पति उगाई, फिर उसे ख़ूब घना और हरा-भरा कर दिया।" (क़ुरआन, सूरा-87 आला, आयतें-1-5)

मतलब यह है कि ईश्वर ने पैदा ही नहीं किया, उत्कृष्ट संरचना भी प्रदान की। फिर उसने उत्कृष्ट संरचना और प्राकृतिक सौन्दर्य ही नहीं प्रदान किया, बल्कि परम लक्ष्य की ओर भी मार्गदर्शन किया। हम देखते हैं कि वह धरती में हरियाली और घास उगाता है और उसमें जो गुण छिपे होते हैं उन्हें उभारने और विकसित करने की व्यवस्था भी करता है। यहाँ तक कि हम देखते हैं कि नन्हे-नन्हे अंकुर अत्यन्त घने, हरे-भरे और मनोरम वृक्ष हो जाते

हैं। इस क़ानून से इनसान का जीवन अलग नहीं है। ईश्वर ने इनसान को केवल जीवन ही नहीं प्रदान किया, बल्कि जीवन देकर जीवनोद्देश्य का भी ज्ञान दिया ; वह मानव का उस मार्ग की ओर मार्गदर्शन करता है जिसपर चलकर वह अपने वास्तविक जीवनोद्देश्य को पा सकता है और अपने जीवन को पूर्णत्व तक ले जा सकता है। इस्लाम हमारे जीवन के सूक्ष्म और कोमल पक्षों का संरक्षक ही नहीं है, बल्कि वह उन्हें उत्कृष्टता के चरम तक ले जाना चाहता है।

मानव का सबसे बड़ा अपराध यह है कि वह अपने-आपको पामाल कर दे और उसे पूर्णता से वंचित रखे। क़ुरआन में है–

> "सफल हो गया वह जिसने उसे (अपने व्यक्तित्व को) विकसित किया। और असफल हुआ वह जिसने उसे दबा दिया।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-91 शम्स, आयतें-9,10)

पूर्णत्व वास्तव में अपने प्रभु की ओर बढ़ने ही पर निर्भर करता है। ईश्वर की उपेक्षा करके मनुष्य पस्ती में गिर जाता है और सफलता के ऊँचे दर्जे पर पहुँचने में असमर्थ रहता है। इस्लाम ने इसे पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है कि मानव अपने पूर्णत्व के लिए सांसारिक परीक्षा के इस चरण में कौन-सी नीति अपनाए। इस सम्बन्ध में इस्लाम ने जो शिक्षा दी हैं उससे व्यक्ति ही नहीं, समाज, समुदाय और पूरी मानवता उन्नति की ओर बढ़ सकती है और लोग एक-दूसरे के पूर्णतत्व में रुकावट होने के बजाय सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

यहाँ उस आनन्द (Pleasure) का भी निषेध नहीं किया गया है जिसका उल्लेख आचारशास्त्र के चिन्तकों के यहाँ मिलता है। लेकिन इसके साथ इसे भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वरीय प्रसन्नता की चाह और उसके लिए प्रयास और उसके दिए हुए क़ानून का पालन स्वयं सर्वाधिक आनन्द का विषय है। इस्लाम मन-मस्तिष्क और हृदय की आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं करता, बल्कि वह मानव की समस्त भावनाओं और उसकी इच्छाओं का आदर करता है, शर्त यह है कि वे भावनाएँ और इच्छाएँ स्वाभाविक और

ईश्वरीय आदेशों के अन्तर्गत हों। नैतिक दायित्वों के निर्वाह में जो प्रसन्नता होती है उसे तो इस्लाम ने दीन और ईमान का लक्षण कहा है। अतएव अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने कहा है—

> "जब तुम्हें अपने अच्छे काम से प्रसन्नता हो और अपने बुरे काम से दुख और क्षोभ हो तो तुम मोमिन हो।"
>
> (हदीस : मुसनद अहमद)

आनन्द चाहे मानसिक हो या आध्यात्मिक और सौन्दर्यबोध से सम्बन्धित, अगर उस आनन्द और धार्मिक मूल्यों के मध्य कोई टकराव न हो तो वह मान्य है। इस्लामी जीवन-व्यवस्था में भी इसका पूरा ध्यान रखा गया है कि व्यक्ति की प्रसन्नता और समाज और सम्पूर्ण मानवता के आनन्द के मध्य कोई विरोध और विसंगति न उत्पन्न हो।

वास्तविक ध्यान

ईश्वरीय मार्गदर्शन के द्वारा हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वही वास्तविक ज्ञान है। दूसरी ज्ञान शाखाएँ चाहे वे आनुभविक हों या अन्तर-परक, उनकी हैसियत मूल ज्ञान के साक्ष्यों की है। नैतिकता का अध्ययन हमें बताता है कि जीवन के नियम, बुद्धि और अन्तर्ज्ञान और मानव के अनुभव, ये सब ईश्वरीय मार्गदर्शन के सत्य और कल्याणप्रद होने के साक्षी हैं। मूल मानदण्ड ईश्वरीय मार्गदर्शन है। दार्शनिकों और तत्त्वदर्शियों द्वारा प्रस्तावित चीज़ों का इससे निषेध नहीं होता, बल्कि इससे उनका सुधार होता है और वे पूर्ण भी होती हैं। उनमें से यदि कोई अमर्यादित हो गई है तो ईश्वरप्रदत्त मार्गदर्शन में उसे एक समुचित व्यवस्था के अन्दर उसके अपने ठीक स्थान पर रखा गया है।

यह विचार सर्वथा असत्य है कि इस्लाम में नैतिकता केवल स्वर्ग और नरक की धारणा पर निर्भर करती है। स्वर्ग और नरक की धारणा नैतिकता का मूलाधार नहीं, बल्कि यह नैतिकता की अन्तिम परिणति है। इस बात को एक मिसाल से समझा जा सकता है। अगर किसी से कहा जाए कि किसी का माल हड़प करोगे तो जेल जाना पड़ेगा तो क्या इसका अर्थ यह होगा कि

इस काम की बुराई कारावास पर निर्भर करती है, स्वयं इस काम में कोई बुराई नहीं? इसी तरह अगर किसी से कहा जाए कि सच्चाई अपनानेवाले को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तो क्या इसका यह अर्थ लेना सही हो सकता है कि सच्चाई का आधार प्रतिष्ठा की प्राप्ति है, सच्चाई अपने अन्दर कोई मूल्य और महत्व नहीं रखती?

क़ुरआन ने भलाई और बुराई की ऐसी धारणा प्रस्तुत की है, जिसकी उच्चता की कल्पना भी साधारण मन नहीं कर सकता। क़ुरआन भलाई को 'मारूफ़' कहता है अर्थात उसकी दृष्टि में भलाई वह है जिससे मानव की प्रकृति भलीभाँति परिचित है, जो उसके स्वभाव के ठीक अनुकूल है, जिसे वह पहचानती है। बुराई को क़ुरआन, 'मुनकर' कहता है। अर्थात् बुराई उसकी दृष्टि में वह है जिसे मानव स्वभाव नकारता है, जो मानव-प्रकृति के लिए अपरिचित है, जिसको वह जानती नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस्लाम में भलाई और बुराई का आधार मानव-प्रकृति और स्वभाव है। उसकी दृष्टि में अच्छाई यह है कि प्रकृति के अनुरूप ठीक-ठीक चला जाए। अभीष्ट यह है कि आदमी उन्नति करके उस उच्च स्थान को प्राप्त कर ले जहाँ धर्म की कोई चीज़ उसकी मरज़ी के ख़िलाफ़ नज़र न आए। सब कुछ उसकी अपनी मरज़ी के मुताबिक़ हो। स्वर्ग के बारे में क़ुरआन में कहा गया है—

> "तुम्हारे लिए वहाँ सभी कुछ है जो तुम्हारा जी चाहे, और वहाँ तुम्हारे लिए वह सभी कुछ है जिसकी इच्छा तुम्हारे अन्दर हो।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-41 हा-मीम अस-सजदा, आयत-31)

इस्लामी दृष्टिकोण से प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने का नाम बुराई है और इसका अंजाम यह होता है कि मनुष्य पतन और विघटन के उस स्थल तक पहुँच जाता है जहाँ कोई चीज़ प्रिय और वांछित न पाई जाए। जो कुछ भी हो उसकी मरज़ी के प्रतिकूल हो। नरक एक ऐसा ही स्थान है जिस तक आदमी को उसकी नैतिक गिरावट ही पहुँचाती है। इससे मालूम हुआ कि नैतिकता का मूलाधार मानव का अपनी प्रकृति को पहचानना और उसके अनुरूप आचरण करना है। नैतिकता कोई बाहरी चीज़ नहीं, बल्कि

वह मानव प्रकृति और स्वभाव की सही अभिव्यक्ति है। मानव अगर अपनी वास्तविक भावनाओं और अनुभूतियों को पहचान ले तो नैतिक अनिवार्यताएँ उसके अपने दिल की उमंगों से भिन्न कोई चीज़ नहीं हैं। जब तक मानव अपने वास्तविक प्रकृति से परिचित नहीं होता वह बुराई से चाहे बच भी जाए मगर उसके दिल और दिमाग़ पूर्ववत गुनाहगार रहेंगे।

जैसा व्यक्तित्व वैसा ही कर्म

आदमी का जैसा व्यक्तित्व होता है उससे कर्म भी वैसे ही होते हैं। किसी कर्म के पीछे केवल नैसर्गिक प्रेरणाएँ (Motives) ही कार्यरत नहीं होतीं, बल्कि उसमें उनका मन-मस्तिष्क, विचार और बुद्धि भी कार्य करती है। उसके पीछे उसके आदर्श और जीवनोद्‌देश्य का भी हाथ होता है जिसे वह चेतन या अचेतन रूप से अपनाए हुए होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति का चरित्र और नैतिकता उसके जीवन का कुछ भाग, या एम. आर्नल्ड (Mathew Arnold) के अनुसार तीन चौथाई ही नहीं होता, बल्कि स्वाभाविक रूप से वह उसके सम्पूर्ण जीवन पर छाया हुआ होता है।

इस्लामी दृष्टिकोण से परोक्ष की कुछ ऐसी चीज़ें भी नैतिकता के लिए प्रेरकों का काम करती हैं जिनका एहसास आम लोगों को नहीं होता। आदमी जब अपने जीवन और परोक्ष के विस्तृत लोक के मध्य, जो यथार्थ जगत् है, अनुकूलता पैदा कर लेता है तो ईश्वर की ओर से उसे सहयोग और सहायता प्राप्त होने लगती है। उसे ज्ञान और तत्त्वदर्शिता प्रदान की जाती है। उसे परितोष और शान्ति प्राप्त होती है। फ़रिश्ते भी उसके हृदय में अच्छे विचारों और भावों को डालने लगते हैं और वह महसूस करने लगता है कि ईश्वर की एक उच्चतम और पवित्र मख़लूक़ (सृष्टजीव) का संग-साथ भी उसे प्राप्त है।

नैतिकता की अभिव्यक्ति

मानव-जीवन में नैतिकता की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हक़ अदा करने के रूप में होती है। नैतिक दृष्टिकोण से मानव पर सबसे पहला और सबसे बड़ा हक़ और अधिकार उसके सृष्टिकर्ता और पालनकर्ता प्रभु का है। ईश्वर के

हक़ को अदा करने में उसकी उपासना, पूजा, आज्ञापालन आदि सारी बातें सम्मिलित हैं। ईश्वर के बाद उसके बन्दों के हक़ हैं जिनसे उसके विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। ईश्वर के बन्दों में सर्वाधिक सुस्पष्ट हक़ माता-पिता का होता है, क्योंकि माता-पिता से मानव का सम्बन्ध अत्यन्त क़रीबी और गहरा होता है। फिर क्रमिक रूप से दूसरे लोगों के हक़ सामने आते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ विवरण क़ुरआन की इस आयत में मिलते हैं–

> "अल्लाह की बन्दगी करो और उसके साथ किसी को साझी न बनाओ। और अच्छा व्यवहार करो माता-पिता के साथ, नातेदारों, अनाथों और मुहताजों के साथ, नातेदार पड़ोसियों के साथ और अपरिचित पड़ोसियों के साथ और साथ रहनेवाले व्यक्ति के साथ और मुसाफ़िर के साथ और उनके साथ भी जो तुम्हारे क़ब्ज़े में हों। अल्लाह ऐसे व्यक्ति को पसन्द नहीं करता जो इतराता और डींगे मारता हो।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-36)

इस आयत में माता-पिता, नातेदारों और दूसरों के साथ सद्व्यवहार का आदेश देते हुए ईश्वर की बन्दगी का आदेश दिया गया है। इसमें इस बात का इशारा पाया जाता है कि जिस प्रकार माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों आदि के साथ सद्व्यवहार मानव के लिए एक नैतिक और स्वाभाविक बात है ठीक उसी प्रकार ईश्वर के आज्ञापालन और उसकी बन्दगी की माँग एक स्वाभाविक और प्राकृतिक माँग है जिसका मानवीय नैतिकता से गहरा सम्बन्ध है। दोनों प्रकार के हक़ों को अदा करने में एक ही आधारभूत नैतिक नियम कार्यरत है। इनमें से किसी एक की उपेक्षा करना उस आधारभूत नियम का निषेध है और इससे मानव स्वयं अपनी नैतिकता और चरित्र को भी आघात पहुँचाता है। आधारभूत नैतिक नियम जीवन के समस्त क्षेत्रों में कार्यरत हैं चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र हो या आर्थिक।

इन विवरणों के प्रकाश में इस बात का भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है कि नैतिक दायित्वों का निर्वाह मात्र किसी बाह्य क़ानून के अनुपालन का नाम नहीं है और न ही यह आदमी का कोई ऐसा त्याग है जो किसी अजनबी (Alien) सत्ता के लिए हो, बल्कि यह तो जीवन के उन

अवयवों की प्रकृति के साथ हमारे समन्वय मात्र की अभिव्यक्ति है जिनसे मानव-चरित्र का निर्माण होता है। अतएव प्लेटो ने कहा है—

> "Virtue will be a kind of health and beauty and good habit of the soul; and vice will be a Disease and Diformity and Sickness of it." (Plato)
>
> "नेकी को स्वास्थ्य और एक प्रकार का सौन्दर्य और आत्मा की एक अच्छी वृत्ति कहा जाएगा और गुनाह को रोग और आत्मा का बिगाड़ और उसकी बीमारी कहेंगे।" (G. Lowes Dickinson)

सच है, नेकी की तलाश और गुनाहों से बचना बिलकुल ऐसा ही है जैसे कोई स्वास्थ्य का इच्छुक हो और बीमारी से बचने का प्रयास कर रहा हो।

इस्लामी समाज

प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी समाज का एक सदस्य होता है और किसी भी समाज के निर्माण में धारणाओं और विचारधाराओं का मुख्य योगदान होता है। किसी भौतिकवादी समाज के व्यक्तियों पर भौतिकवादिता का प्रभुत्व एक स्वाभाविक बात है। फिर उसके जो दुष्परिणाम सामने आते हैं उसकी क़ीमत हर एक को चुकानी पड़ती है। लार्ड स्नेल (Lord Snell) ने 1947 ई॰ में लिखा था कि इस समय सभ्यता एक ऐसे दोराहे पर खड़ी है कि यहाँ से एक पग भी यदि वह ग़लत दिशा में मुड़ी तो फिर बरबादी और विनाश ही उसकी नियति है। स्नेल ने कहा है कि यूँ तो मानव-इतिहास दुर्घटनाओं से भरा हुआ है, लेकिन वर्तमान परिस्थिति सर्वाधिक चिन्ताजनक है। इसके अन्धकार को मानव-हृदय की गहराइयों में देखा जा सकता है। वांशिक दम्भ, अधिक्रमण और प्रभुत्व की भावनाएँ और राज्य एवं राष्ट्र के विषय में भ्रष्ट दर्शन किसी भी अन्धकार से कम नहीं। संगठित बुराई की शक्तियाँ सबसे अधिक इस वर्तमान युग में सशक्त हुई हैं और उनसे सुरक्षित रहने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। स्नेल ने आगे चलकर लिखा है कि यदि हमने अपने जीवन की टूटी-फूटी इमारत को मज़बूत बुनियादों पर स्थापित न किया तो हमारा भाग्य दुर्भाग्य में बदलता चला जाएगा।

एक आदर्श समाज वह हरगिज़ नहीं है जिसमें भोग-विलास के भौतिक साधनों ही को सब कुछ समझा जाता है और जहाँ जीवन की पराकाष्ठा यह समझी जाती है कि मानव की भौतिक आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी होती हों, अपितु आदर्श समाज उसे कहा जाएगा जिसमें मानवता भौतिक परिधि के अन्दर आबद्ध होकर न रहे, बल्कि वह उस परिधि से आगे बढ़ चुकी हो। केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही उसे शान्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त न हो, बल्कि उसके समक्ष जीवन के वे मूल्य भी हों जो उसे भौतिकता के स्तर से उच्च रखते हों।

एक आदर्श समाज की क्या विशेषताएँ होती हैं, इस विषय में पाश्चात्य विचारकों को भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि आदर्श समाज उसी समाज को कहा जा सकता है जिसके व्यक्तियों में परस्पर सहयोग की भावना काम कर रही हो और जिनकी दृष्टि के समक्ष एक ऐसा उद्देश्य हो जिसकी आधारशिलाएँ एक मात्र भौतिकता पर स्थित होने के बजाय ईश-धारणा पर स्थित हों। अतएव ब्राइट मैन (Bright Man) ने ऐसे समाज के बारे में स्पष्ट शब्दों में लिखा है–

"यह समाज ऐसे स्वतंत्र लोगों से निर्मित होगा जो एक बुद्धिसंगत और मूल्यवान एकाकी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहयोग और पारस्परिक सहायता से काम लेते हों, एक ऐसे एकाकी लक्ष्य के लिए जिसकी आधारशिलाएँ ईश-धारणा पर स्थित हुई हों।" (A Philosophy of Religion, P. 146)

आदर्श समाज की रूपरेखा को स्पष्ट करते हुए जोड (Joad) ने लिखा है–

"आदर्श समाज उसे कहेंगे जिस समाज के व्यक्ति वह काम करने का संकल्प रखते हों जिसको वे सत्य समझते हों, और समाज का हर व्यक्ति उसी को सत्य समझता हो जो वास्तव में सत्य है। दूसरे शब्दों में आदर्श समाज वह है जिसके व्यक्ति उन कामों को सत्य समझें और व्यवहारतः उन्हें अपनाए हुए भी हों, जो सर्वोत्तम परिणाम की ज़मानत देते हों, अर्थात् जो सौन्दर्य, सत्यता, आनन्द और नैतिक गुण आदि अटल मूल्यों के प्रतीक हों। जिस समाज के लोग भी उन मूल्यों को अधिक-से-अधिक महत्व देंगे और अपने व्यवहार और चरित्र में उनका पूर्ण ध्यान रखेंगे उसी समाज को सर्वोत्तम समाज कहा जा जाएगा।"

(Guide to the Philosophy of Morals and Politics, P. 467 से 469)

विचारकों ने व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को ठीक रखने के लिए भावनाओं की एकात्मकता को भी आवश्यक ठहराया है। अतएव औस्पेंस्की (Ouspensky) ने लिखा है–

"लोग विभिन्न भावनाओं के अन्तर्गत जीवन व्यतीत करते हैं।

इसलिए एक-दूसरे को समझने में ग़लतफ़हमियाँ पैदा होती हैं। यदि उनकी भावनाओं में एकात्मकता पैदा हो जाए तो वे एक-दूसरे को ठीक रूप से समझने की स्थिति में आ जाएँगे।"

(Tertium Organum, P. 198)

विचारकों के ये विचार और मनोभाव इसलिए उद्धृत किए गए हैं, ताकि इस बात का भलीभाँति अनुमान लगाया जा सके कि आज दुनिया को मानवता की पीड़ा और दुख के जिस उपचार की तलाश है वह पूर्णतः इस्लाम की शिक्षाओं में मौजूद है। ईश्वरीय प्रकाशना ने इस सम्बन्ध में हमारा भरपूर मार्गदर्शन किया है।

इस्लाम ईश-परायणता की वह प्रणाली प्रस्तुत करता है, जिसमें सिर्फ़ यही नहीं कि मानव-जीवन के हर क्षेत्र के लिए स्पष्ट और सत्य पर आधारित आदेश दिए गए हैं, बल्कि इसके साथ ही उसके सारे ही आदेश चाहे उनका सम्बन्ध जीवन के किसी भी क्षेत्र और विभाग से हो, परस्पर एक-दूसरे के साथ सामंजस्य पाया जाता है और पूरी ही जीवन-व्यवस्था में ईश-बन्दगी और ईश-चाह की आत्मा ठीक उसी प्रकार क्रियाशील दिखाई देती है जिस प्रकार किसी जीवित शरीर में आत्मा क्रियाशील दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त इस्लाम, समाज में उत्पन्न होनेवाली सारी ही बुराइयों और उपद्रवों (फ़ितनों) का द्वार भी बन्द करता है। वह इनको किसी स्थिति में भी अनदेखा नहीं करता।

इस्लाम की दृष्टि में मानव और मानव के सम्बन्ध का मूल आधार वर्ण, वंश, भाषा, राष्ट्रीयता और स्वदेशता नहीं, बल्कि सम्बन्ध का मूल और वास्तविक आधार एक ईश्वर (ख़ुदा) पर ईमान और एक आस्थापूर्ण नैतिक संहिता है। यह नैतिक संहिता ईमान से अलग कोई चीज़ नहीं है, बल्कि यह नैतिक संहिता वास्तव में ईमान की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में हमारे सामने आती है। और इस नैतिक संहिता का सम्बन्ध जीवन के किसी विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि यह मानव-जीवन को इस प्रकार अपने घेरे में ले लेती है कि जीवन का कोई क्षेत्र भी उससे अलग होकर नहीं रह सकता, क्योंकि मानव का कल्याण इसी में है कि वह हर मामले में

और हर हालत में ईश्वर ही का दास (बन्दा) बनकर रहे। उससे विमुखता उसके लिए पथभ्रष्टता, गुमराही और तबाही के सिवा कुछ और नहीं हो सकती।

फिर यह नैतिक संहिता अपने अन्दर यह गुण भी रखती है कि उसके अंतर्गत संसार के सारे मानव एक हो सकते हैं, और इस प्रकार मानवों का एक सार्वभौमिक बंधुत्व का निर्माण हो सकता है। रहे वे लोग जो इस संहिता को, जिसकी बुनियाद ईश-बन्दगी और ईश-मिलन की चाह है, न मानें तो इस्लामी समाज में वे सम्मिलित तो नहीं हो सकते लेकिन मानवता के अधिकारों से उन्हें वंचित नहीं रखा जा सकता। संयुक्त मानवता के आधार पर इस्लामी समाज ने ग़ैर-इस्लामी समाज के जो अधिकार स्वीकार किए हैं उनमें संकीर्णता (तंग-नज़री) के बजाय विशाल हृदयता ही दिखाई देती है।

किसी भी समाज का आधारभूत अंग वास्तव में 'परिवार' होता है। पुरुष और स्त्री के मिलाप से ही एक नस्ल अस्तित्व में आती है और फिर उससे विभिन्न रिश्ते-नातों और कुटुम्बों के विविध संपर्क उत्पन्न होते हैं। फिर यही चीज़ फैलकर एक समाज का निर्माण करती है।

संस्कृति का आधार 'परिवार' ही है। यही कारण है कि इस्लाम परिवार की संस्था को ठीक और सुदृढ़ आधारों पर स्थापित करना चाहता है। वह 'निकाह' (विवाह) को एक नेकी (पुण्यकर्म) और इबादत ठहराता है। संसार-त्याग उसकी दृष्टि में अल्लाह की निर्मित प्रकृति के विरुद्ध एक मनगढ़त चीज़ के सिवा और कुछ नहीं है।

फिर पारिवारिक व्यवस्था को अनुशासित करने के उद्देश्य से पति को एक ज़िम्मेदार और उत्तरदायी व्यवस्थापक की हैसियत दी गई है। पत्नी को पति की आज्ञा का पालन करना चाहिए और सन्तान का कर्त्तव्य है कि वह माँ-बाप दोनों की सेवा और उनके आज्ञापालन को अपने लिए प्रतिष्ठा और गौरव की बात समझे।

इस्लाम प्रेम और दयाशीलता को दाम्पत्य जीवन की मूलात्मा ठहराता है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में प्रेम और सहचारिता की भावना क्रियाशील हो,

यह इस सम्बन्ध की स्वभावतः अपेक्षा (माँग) भी है।

फिर परिवार से हटकर निकट के नातेदार होते हैं। इस्लाम की शिक्षा यह है कि वे परस्पर एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और दर्दमन्दी का भाव रखें। नातेदारों के सम्बन्ध के बाद पड़ोस के सम्बन्ध को भी इस्लाम ने विशेष महत्त्व दिया है। पड़ोसी अपना नातेदार भी हो सकता है और अजनबी भी। एक पड़ोसी वह भी है जिसका पड़ोसी सामयिक होता है। जैसे किसी के साथ कुछ देर के लिए बैठना हुआ या सफ़र में किसी का साथ हो जाए। इस्लाम की शिक्षा यह है कि हमारे सारे ही पड़ोसी, चाहे वे किसी भी प्रकार के हों, हमारी सहानुभूति और अच्छे व्यवहार के पात्र होते हैं।

जो चीज़ें समाज में बिगाड़ पैदा करनेवाली हैं, समाज के लिए उसकी हैसियत प्राणघातक रोग की है। इन रोगों से समाज को सुरक्षित रखने की ओर इस्लाम विशेष ध्यान देता है। यही कारण है कि वह ईर्ष्या, द्वेष, पीठ पीछे बुराई करना, सन्देह, दुर्भावना, बदगुमानी और टोह आदि से परहेज़ करने की ताकीद करता है और चाहता है कि इस्लामी समाज के सदस्य खुदा के बन्दे और परस्पर एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखनेवाले और दर्दमन्द भाई बनकर रहें। इस्लाम में अपेक्षित यह है कि लोग एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने के बजाय एक-दूसरे के हमदर्द, सहयोगी और सुख-दुख में साथ देनेवाले बनकर रहें। एक को दूसरे पर भरोसा हो और वे परस्पर एक-दूसरे को अपने प्राण, धन और मर्यादा एवं प्रतिष्ठा का रक्षक समझें।

निकटवर्ती समाजी सम्बन्धों के बाद सामूहिक जीवन का वह विस्तृत और व्यापक क्षेत्र हमारे सामने आता है जिसका सम्बन्ध पूरे ही समाज से है। इस सम्बन्ध में इस्लाम ने जो हिदायतें दी हैं, वे अत्यन्त स्वाभाविक और न्याय पर आधारित हैं और उनमें मानवता की प्रतिष्ठा और गौरव का पूरा ध्यान रखा गया है। विश्व-कल्याण की चिन्ता और नेकी के कामों में सहयोग, बुराई से असहयोग और परस्पर घृणा के स्थान पर निकटता एवं प्रेम का वातावरण निर्मित करना और उसे शेष रखने के लिए कार्यरत रहना इत्यादि ऐसे सिद्धान्त हैं जिनको सदैव अपने समक्ष रखना इस्लामी समाज के सदस्यों का प्रथम कर्तव्य है।

इस्लामी सभ्यता एवं संस्कृति

सभ्यता एवं संस्कृति के मैदान में इस्लामी सभ्यता एवं संस्कृति को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। सभ्यता और संस्कृति क्या है? इस सम्बन्ध में विभिन्न बातें कही जाती हैं। संस्कृति को सभ्यता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है और आजकल सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति की परिभाषा अधिक प्रचलित है। सभ्यता को प्रायः मनुष्य के वाह्य अर्थात् उसके भौतिक संसाधनों और ज्ञान-विज्ञान कला के रूप में देखा जाता है। इसके विपरीत संस्कृति का सम्बन्ध मानव की आत्मा और उसके अन्तर से जोड़ा जाता है। सभ्यता के प्रतीकों में परिस्थितियों और समय की दृष्टि से परिवर्तन सम्भव है, किन्तु संस्कृति एक सार्वकालिक वस्तु है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

साधारणतया लोगों की दृष्टि में सभ्यता से अभिप्रेय नियम, शिष्टाचार, शिक्षा और जीवनशैली है, और संस्कृति को सभ्यता ही की एक शाखा समझा जाता है। संस्कृति में विकार और टेढ़ से मुक्त होने का भाव पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृति जीवन के विभिन्न पक्षों में सन्तुलन, समानुपात और पूर्णता का दूसरा नाम है। संस्कृति का अंग्रेज़ी में पर्याय शब्द कल्चर (Culture) है। इसका मूल अर्थ है— हल चलाना और खेती-बाड़ी करना। लेकिन अब यह एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। इसमें सामाजिक रीति और जीवन-पद्धति से सम्बन्धित समस्त चीज़ें सम्मिलित कर ली गई हैं। इसमें केवल वे काम ही सम्मिलित नहीं है जो स्वभावतः सम्पन्न होते हैं। जैसे भूख-प्यास स्वाभाविक चीज़ है। यह संस्कृति में सम्मिलित नहीं है। लेकिन भूख-प्यास मिटाने के जो ढंग अपनाए जाते हैं वे संस्कृति के अंग हैं। दूसरे शब्दों में इसमें वे सभी चीज़ें शामिल हैं जो मानव द्वारा उपार्जित की जाती हैं। इस प्रकार विचार, आस्था, नैतिकता, शिष्टाचार, सभ्यता, नागरिकता, ज्ञान-विज्ञान, कलाएँ, रुचि और प्रवृत्ति आदि सभी को इसमें सम्मिलित समझा जाता है। अपने व्यापक अर्थ और आशय की दृष्टि में

सभ्यता और संस्कृति में इतना गहरा सम्बन्ध है कि दोनों एक-दूसरे की जगह प्रयुक्त होते हैं।

इस्लाम का सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में अपना विशिष्ट विचार एवं दृष्टिकोण है जिसका मूलाधार अल्लाह की किताब और रसूल की सुन्नत (तरीक़ा) है। धार्मिक भावना वास्तव में अपनी गहराइयों में एक सौन्दर्यबोध है। मानव-जीवन भी अपने अन्तिम विश्लेषणात्मक अध्ययन में एक सौन्दर्यबोध के सिवा कुछ और नहीं, और न परम सौन्दर्य के सिवा उसकी कोई और प्रकृति है। इस कामना की पूर्ति के लिए इनसान को जिन उत्तम प्रयासों से काम लेना पड़ता है उनका सार एक उच्च संस्कृति के रूप में हमारे सामने व्यक्त होता है। उन उत्तम प्रयासों का सम्बन्ध धारणा, विचार, समाज, अर्थ, राजनीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों से है।

यदि गहराई के साथ देखा जाए तो ज्ञान-विज्ञान-शिष्टाचार के नियम हों या सामाजिक तौर-तरीक़े, ललित कलाएँ और शिल्प कलाएँ हो या नागरिकता और राजनीति का तौर-तरीक़ा, ये सभी कुछ वास्तव में सभ्यता और संस्कृति के मात्र प्रतीक है। इनको सभ्यता और संस्कृति का पर्याय या सभ्यता एवं संस्कृति का मूल समझना सत्य न होगा। किसी भी सभ्यता या संस्कृति के मूल्य (Value) का अनुमान उसके उन मौलिक तत्वों के अध्ययन से ही होता है जिनके योग से उस सभ्यता व संस्कृति को आकार मिलता है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन में देखने की मूल चीज़ यह होती है कि उसकी दृष्टि में संसार में मानव की वास्तविक हैसियत क्या है? वह किस चीज़ को इनसान के जीवन का उद्देश्य निश्चित करता है, जिसके लिए मनुष्य को प्रयास करना चाहिए। उसके मौलिक विचार और धारणाएँ क्या हैं? इसलिए कि इन सभी बातों का प्रभाव इनसान के उस व्यवहार और नीति पर अनिवार्यतः पड़ता है जो व्यवहार-नीति वह अपनी दुनिया की ज़िन्दगी में अपनाता है, और इनसान का प्रयास ही वास्तव में वह चीज़ है जिससे किसी सभ्यता का आविर्भाव सम्भव होता है।

फिर इस सम्बन्ध में यह भी देखना होगा कि अध्ययनाधीन संस्कृति के अन्तर्गत व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा किस ढंग पर की जाती है। वे स्वभाव एवं

गुण क्या हैं जिनको महत्त्व दिया जाता है? और यह कि मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किए जाते हैं? इनसान के क्या अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किए जाते हैं? और वे मर्यादाएँ क्या हैं जिनका आदर करना मनुष्य के लिए आवश्यक होता है?

जहाँ तक इस्लामी संस्कृति का सम्बन्ध है तो हम देखते हैं कि इस्लामी दृष्टिकोण से यह जगत् ईश्वर के बिना नहीं है। जगत् की सारी चीज़ें ईश्वर की पैदा की हुई हैं। उसने इनसान को उनपर श्रेष्ठता प्रदान की है। उसने विश्व को इनसान ही के लिए वशीभूत किया है। इस्लामी दृष्टिकोण से इनसान का जीवन और उसके प्रयासों का मूल उद्देश्य प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त करना है। इसलिए उसे जीवन में वही व्यवहार-नीति अपनानी चाहिए जो ईश्वर को पसन्द है।

अल्लाह पर ईमान और उसके प्रति सही धारणा मानव को हर प्रकार की संकीर्णता से मुक्त करती है। उसकी समस्त आशाएँ एक ईश्वर से जुड़ी होती हैं। लोभ-लालच, ईर्ष्या व कपट, संकीर्णता और सहनशीलता जैसे दुर्गुण उससे दूर हो जाते हैं। फिर इस्लाम ने रिसालत पर ईमान लाने की शिक्षा दी है, जिसका मतलब यह होता है कि ख़ुदा अपने बन्दों को अपने रसूलों के माध्यम से सम्बोधित करता है और उनका मार्गदर्शन करता है। रसूलों की शिक्षाएँ और उनके बताए हुए सिद्धान्त और नियम सत्य पर आधारित होते हैं। रसूलों के आज्ञापालन में जीवन व्यतीत करनेवाले ही सफल होंगे। उन्हीं को आख़िरत में ऐसा शाश्वत जीवन प्राप्त होगा जो समस्त दोषों से मुक्त होगा। संसार का अस्थायी जीवन तो वास्तव में आख़िरत के विश्वसनीय और वास्तविक जीवन के प्राप्त करने का मात्र साधन है।

जहाँ तक व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है, व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा के लिए इस्लाम जो ढंग अपनाता है उसका सम्बन्ध बाह्य की अपेक्षा अन्तर से अधिक है। और यह एक तथ्य है कि मनुष्य के अन्तर की शुद्धि ही पर उसका सुधार निर्भर करता है। अच्छे चरित्र और उत्तम नैतिकता को ग्रहण करने के पश्चात् ही मनुष्य इस योग्य होता है कि वह जीवन में अच्छी-से-

अच्छी व्यवहार नीति अपना सके और ईश्वर की दृष्टि में एक अच्छा मनुष्य ठहरे। इस्लाम की सामूहिक व्यवस्था परिवार से आरम्भ होती है और एक समुदाय का रूप ले लेती है। फिर यह समुदाय इस स्थिति में होता है कि अपनी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक नीति से यह सिद्ध कर सके कि एक आदर्श समाज कैसा होता है और एक आदर्श राज्य-व्यवस्था किसे कहते हैं। फिर यही समुदाय सम्पूर्ण मानव-जाति के नेतृत्त्व का दायित्व स्वीकार कर सके। इस्लाम संसार में अत्याचार और अन्याय, उपद्रव और बिगाड़ के स्थान पर सत्य व न्याय, भाईचारा और सहयोग का वातावरण देखना चाहता है। उसकी निगाह में प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से ईश-भय और ईशपरायणता पर निर्भर करती है। वह अनुचित साज-सज्जा, दिखावटी तड़क-भड़क की जगह स्वाभाविक सादगी, निष्ठा, विचार और दृष्टिकोण की उच्चता पर बल देता है। वह चाहता है कि पीड़ितों और बेसहारों के प्रति न्याय किया जाए। हत्या, बलात्कार, अश्लीलता, नग्नता, मदिरापान, जुआ और अन्य सभी बुराइयों का उन्मूलन हो। वह हर जगह पवित्रता और निर्माल्य चाहता है। केवल यही नहीं कि हमारे वस्त्र और घर साफ़-सुथरे हों, बल्कि हमारे मामले भी ठीक और सही हों, यहाँ तक कि हमारे साहित्य और काव्यों में भी पवित्रता और सुसंस्कृत रुचि की अभिव्यक्ति हो। समस्त मामलों में न्याय और सत्य का ध्यान रखा जाए। कहीं भी न्याय को आघात न पहुँचे, यहाँ तक कि दूसरे धर्मों के अनुयायियों के साथ उदारता की नीति अपनाई जाए।

इस्लाम एक ऐसी जीवन-व्यवस्था का आवाहक है जिसके सिद्धांत, नियम और क़ानून सार्वभौमिक हैं। उसके द्वारा सम्पूर्ण मानव-जाति सुख-शान्ति को प्राप्त कर सकती है। इस्लाम इनसान की न तो आध्यात्मिक आवश्यकता की उपेक्षा करता है और न उसकी भौतिक और लौकिक आवश्यकताओं को नकारता है।

इस्लाम ने सही अर्थों में सच्ची और सार्वभौमिक संस्कृति की धारणा संसार के समक्ष प्रस्तुत की है जिसके योगिक तत्त्वों में पारस्परिक विलीनता और एकात्मकता पाई जाती है। यही वह चीज़ है जो जीवन और उसके

समाज की सुन्दरता

किसी समाज में केवल न्याय व इनसाफ़ की स्थापना ही पर्याप्त नहीं होती। समाज में सुन्दरता, आकर्षण और सुन्दर वातांवरण उस समय पैदा होता है जब उसके व्यक्तियों में पारस्परिक प्रेम और आत्मीयता पाई जाती हो। वे एक-दूसरे से नफ़रत न करते हों, बल्कि वे परस्पर एक-दूसरे के लिए अपने दिलों में अच्छी-से-अच्छी भावनाएँ रखते हों। स्वार्थपरता के स्थान पर त्याग और दानवीरता उनकी पहचान हो। स्वयं खाने की अपेक्षा दूसरों को खिलाने में उनको अधिक स्वाद आता हो। वास्तविक सुख उन्हें लेने में नहीं, बल्कि दूसरों को देने में मिलता हो। दुनिया में रहकर उन्हें दुनिया से कहीं अधिक आख़िरत का आभास हो रहा हो। इस स्थिति में स्पष्ट है कि उनका दृष्टिकोण उन लोगों से बिलकुल भिन्न होगा जो इसी वर्तमान दुनिया में सब कुछ पा लेने के इच्छुक हों, और यहाँ की सफलता उनकी दृष्टि में वास्तविक सफलता और यहाँ का घाटा उनकी निगाह में वास्तविक घाटा हो। इस प्रकार के लोग बिलकुल अपने शरीर के आसपास जीते हैं। आत्मा भी कोई चीज़ है और उसकी भी कुछ अपेक्षाएँ और माँगें हो सकती हैं। इसके बारे में सोच-विचार करने के लिए उनके पास बिलकुल ही समय नहीं होता। चूँकि उनका जीवन-विस्तार दुनिया ही तक होता है इसलिए उनसे किसी बड़ी क़ुरबानी की आशा नहीं की जा सकती और न उनसे इसकी आशा की जा सकती है कि वे जीवन के मूल रहस्य और उसके मूल उद्देश्य को समझने में दिलचस्पी ले सकते हैं।

इस तरह के लोगों के जीवन का सार संसार और सांसारिक वस्तुओं के सिवा और कुछ नहीं होता। उनकी सभ्यता का आधार भौतिक लाभ होता है। इसके सिवा उन्हें किसी आध्यात्मिक आवश्यकता का एहसास नहीं होता। जब स्वार्थपरता और उतावलापन ही उनके जीवन का मूल अक्ष होता है तो फिर वे मानवता पर जो ज़ुल्म और अत्याचार भी करें उसपर आश्चर्य

नहीं किया जा सकता। उनमें लज्जा, आत्मसम्मान, सहानुभूति और संवेदनशीलता नाम की कोई चीज़ नहीं पाई जाएगी। उनका सम्पूर्ण अस्तित्व जड़त्व के आवरण से ढका हुआ होगा। बड़ी-से-बड़ी घटनाएँ और शिक्षाप्रद हादसे भी उन्हें जगाने में असफल रहते हैं।

आदर्श समाज

इस्लाम की नज़र में आदर्श समाज वही हो सकता है जिसमें सत्य और न्याय का शासन हो। जिसमें न्याय और इनसाफ़ की उपेक्षा न की जाती हो। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के लिए त्याग से काम लेता हो, और एक-दूसरे से गहरा प्रेम रखते हों। आदर्श समाज उसी को कहा जा सकता है जिसमें हक़ और सच्चाई के अर्थ में किसी प्रकार की सन्दिग्धता न पाई जाती हो। जिसके लोग सत्य से परिचित हों। अर्थात् वे सत्य को सत्य समझते हों और उसे धारण करने की प्रबल आकांक्षा उनमें मौजूद हो और वे अपने व्यावहारिक जीवन में सत्य के अनुवर्ती भी हों। ऐसे समाज में इसके उत्तम परिणाम देखे जा सकते हैं।

मानव-जीवन में अच्छे कर्म वही हो सकते हैं जो जीवन के वास्तविक मूल्यों, सत्यम्-सुन्दरम और वास्तविक आनन्द के प्रतीक हों। जोड (Joad) की दृष्टि में भी उत्तम समाज वही है जिसके लोग जीवन के मूल्यों को अधिक-से-अधिक महत्त्व देते हों और जिनके व्यवहार में मौलिक रूप से उन्हीं मूल्यों का ध्यान रखा जाता हो।[1] जीवन के मूल्यों का निर्धारण उसी समय सम्भव है जबकि मनुष्य का सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित हो, जो स्थायी मूल्यों (Permanent Values) का मूल स्रोत है। लेकिन अगर समाज में लोग विविध भावनाओं और धारणाओं के साथ जीवन व्यतीत करते हैं और उनकी भावनाओं और धारणाओं में पूर्ण रूप से एकात्मता नहीं पाई जाती हो तो इसका परिणाम अव्यवस्था और बिखराव के सिवा कुछ और नहीं हो सकता। अगर लोगों की भावनाओं में समरसता पैदा हो जाए तो वे एक-दूसरे को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं और स्वाभाविक रूप से लोगों के मध्य मैत्री-भाव और प्रेम का वातावरण उत्पन्न हो सकता है।

---

1. देखें : Guide to the Philosophy of Morals and Politics, P. 467-469

आदर्श समाज के लिए यह भी ज़रूरी है कि उसका निर्माण एक उद्देश्य के अन्तर्गत हो और सम्पूर्ण मानवता का विकास उसके समक्ष हो। कान्ट के शब्दों में समाज के लोगों के विचार इतने उच्च हो जाएँ कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के हितों के मूल्य को अपने हितों के मूल्य के बराबर समझने लगे। बाग़ के फूल परस्पर एक-दूसरे के शत्रु नहीं होते। मनुष्य को भी एक-दूसरे का अहित चाहनेवाला नहीं होना चाहिए। इसलिए कि उन्हें एक-दूसरे की प्रगति में सहयोगी और सहायक बनाकर पैदा किया गया है। लेकिन यह उसी समय सम्भव है जब मनुष्य के समक्ष जीवन के वास्तविक मूल्य और जीवन का वास्तविक उद्देश्य हो जिसका ज्ञान ईश-प्रकाशना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी पूर्ण शिक्षा और व्याख्या हमें क़ुरआन और हदीस में स्पष्ट रूप से मिलती है।

अध्याय–4

इस्लाम की आर्थिक और राजनीतिक शिक्षाएँ

इस्लामी अर्थव्यवस्था

मानव-जीवन में जीविका ही सब कुछ नहीं है, फिर भी इसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। क़ुरआन ने माल और धन को मानव के अस्तित्व एवं स्थायित्व का साधन बताया है। अतएव कहा गया है—

"अपने माल (धन-सम्पत्ति) जिसे अल्लाह ने तुम्हारी स्थिरता का साधन बनाया है, नासमझ लोगों को न दो।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-5)

धन-सम्पत्ति से हमारे कितने ही काम चलते हैं और कितने ही अच्छे और विकास के कार्य इसके द्वारा सम्पन्न होते हैं। इसी लिए माल को ख़ैर या भलाई भी कहा गया है।

"और जो माल भी तुम भलाई के कामों में ख़र्च करोगे उसका पूरा-पूरा बदला तुम्हें दिया जाएगा और तुम्हारा हक़ हरगिज़ न मारा जाएगा।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-272)

क़ुरआन में माल के लिए जो मूल अरबी शब्द प्रयोग हुआ है वह 'ख़ैर' का शब्द है। प्रामाणिक (Authentic) हदीस में आया है—

"अच्छे आदमी के लिए अच्छा धन उत्तम वस्तु है।"

(हदीस : अहमद)

अर्थ-व्यवस्था के विषय में साधारणतया चार पहलुओं से विचार किया जाता है—

1. धनोपार्जन (Production of Wealth)
2. धन का वितरण (Distribution of Wealth)
3. धन का विनिमय (Exchange of Wealth)
4. धन का उपभोग (Consumption of Wealth)

अर्थ-व्यवस्था में इन सारे ही पहलुओं से न्याय का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके साथ यह भी ज़रूरी है कि मनुष्य की जीविका उसके जीवन के दूसरे क्षेत्रों से असम्बद्ध होकर न रहे, बल्कि उसके और मानव के

नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक आदि सारे ही विभागों के मध्य सामंजस्य पाया जाता हो। जीवन के किसी विभाग से उसका टकराव न पाया जाता हो। किन्तु हम देखते हैं कि यह विशेषता न पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पाई जाती है और न ही साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में इसका कहीं पता चलता है।

ग़ैर-इस्लामी अर्थ-व्यवस्था की सबसे बड़ी ख़राबी यह है कि उसमें भौतिकवादी दृष्टिकोण ही क्रियाशील दिखाई देता है। प्रत्येक मामले में न्याय को ध्यान में रखा जाए, किसी के साथ भी अन्याय न हो, इसकी चिन्ता बहुत कम होती है। जो व्यक्ति जहाँ है वह केवल अपने अधिकारों की सुरक्षा के प्रयास में लगा रहता है, बल्कि उसकी इच्छा यह होती है कि किसी प्रकार से दूसरों के हिस्सों पर भी उसका क़ब्ज़ा हो जाए। वह यह सोचता ही नहीं कि समाज में किसी प्रकार का असन्तोष उत्पन्न न हो, समाज किसी आर्थिक संकट में न पड़े। कम-से-कम प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताएँ पूरी हों। निर्धन और धनवान के मध्य असाधारण अन्तर न आने पाए। ऐसा न हो कि किसी व्यक्ति के लिए तो शरीर और प्राण के सम्बन्ध को बनाए रखना ही कठिन हो रहा हो और किसी को मात्र अपने धन में और अधिक अभिवृद्धि की चिन्ता लगी हुई हो। सम्पन्न होने के बावुजूद लूट-खसोट के सिवा उसे और कुछ न आता हो। त्याग, दानशीलता और समाज की आर्थिक प्रगति जैसी बातों का उसे भूल से भी ख़याल न आता हो।

इस्लाम ने अर्थ-व्यवस्था को स्वतन्त्र रूप से कोई अलग विभाग घोषित नहीं किया है, बल्कि उसने इस विभाग का सम्बन्ध अपने दूसरे आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक विभागों से स्थापित किया है। जिस प्रकार मानव-शरीर के किसी अंग में कोई पीड़ा होती है तो उससे उसका पूरा शरीर प्रभावित होता है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक या जीवन के किसी विभाग में अगर कोई ख़राबी पैदा होती है तो उससे जीवन के दूसरे विभाग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इस्लामी विचारधारा का ठीक और दुरुस्त होना इसपर निर्भर करता है कि उसके समस्त विभाग ठीक तौर पर सुदृढ़ हों। उनके मध्य पारस्परिक सामंजस्य और अनुकूलता (Co-ordination) भी स्थापित रहे। एक व्यक्ति यदि देखने में इस्लाम के नैतिक

सिद्धान्तों का आदर करता हुआ दिखाई देता हो लेकिन आर्थिक मामले में वह यदि इस्लामी सिद्धान्तों की परवाह नहीं करता तो इस्लामी दृष्टिकोण से उसे कदापि सुशील और चरित्रवान नहीं कहा जा सकता। इस्लाम चाहता है कि समाज में परस्पर सहानुभूति की भावना क्रियान्वित हो और ईर्ष्या एवं दुश्मनी के स्थान पर लोगों के मध्य दोस्ती की भावना काम कर रही हो।

इस्लाम की दृष्टि में जगत् और जगत् में पाई जानेवाली समस्त चीज़ों का वास्तविक स्वामी अल्लाह है और स्वयं मनुष्य भी उसी की मिलकियत है। क़ुरआन में आया है—

"आकाशों और धरती और जो कुछ उनके मध्य है सबपर बादशाही अल्लाह ही की है और जाना भी उसी की ओर है।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-18)

अल्लाह ने जगत् को मानव के लिए उपयुक्त और अनुकूल बनाया है और उसने इनसान को यह अधिकार दिया है कि वह जगत् और उसमें पाई जानेवाली चीज़ों से लाभ उठाए। अलबत्ता इस सिलसिले में अल्लाह द्वारा निर्धारित नियमों और क़ानूनों का ध्यान रखना आवश्यक है। क़ुरआन में है—

"क्या तुमने देखा नहीं कि अल्लाह ने जो कुछ आकाशों में और जो कुछ धरती में है सबको तुम्हारे काम में लगा रखा है, और उसने तुमपर अपनी प्रकट और अप्रकट अनुकम्पनाएँ पूर्ण कर दी हैं।" (क़ुरआन, सूरा-31 लुक़मान, आयत-20)

"वही है जिसने तुम्हारे लिए वह सब कुछ पैदा किया जो धरती में है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-29)

एक अन्य स्थान पर कहा—

"और धरती में हमने तुम्हें सत्ता और अधिकार प्रदान कर रखा है और उसमें तुम्हारे लिए जीवन-साधन उपलब्ध किए हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आय-10)

ज्ञात हुआ कि जगत् की सारी चीज़ें इनसान के लिए पैदा की गई हैं और ईश्वर ने जिन संसाधनों की व्यवस्था की है, वे किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं, बल्कि सारे ही इनसानों के लिए पैदा किए हैं। उनसे लाभान्वित

होने के लिए किसी विशेष वंश की कोई शर्त नहीं रखी है। अलबत्ता इनसान के लिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में वह अल्लाह के द्वारा निर्धारित नियमों का ध्यान रखे। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने कहा है—

"वैध वह है जिसे अल्लाह ने अपनी किताब में वैध किया और अवैध वह है जिसको अल्लाह ने अपनी किताब में अवैध कर दिया, और जिन चीज़ों में कुछ नहीं कहा, (अर्थात् जिनका वर्णन नहीं किया) वे क्षम्य हैं।" (हदीस : तिरमिज़ी, इब्ने-माजा)

फिर वैध और अवैध करने के आदेश भी अकारण ही नहीं दिए गए हैं, बल्कि वे इस सिद्धान्त पर निर्भर करते हैं—

"वह (पैग़म्बर अल्लाह के आदेश से) लोगों के लिए पवित्र चीज़ों को वैध और अपवित्र चीज़ों को अवैध ठहराता है।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-157)

इसका तद्धिक स्पष्टीकरण नबी (सल्ल॰) की इस हदीस से होता है—

"इस्लाम में न तो क्षति वैध है और न एक-दूसरे को हानि पहुँचाना वैध है।" (मज्मउज़्ज़वाइद)

कोई चीज़ यदि इनसान के लिए हानिकारक है तो वह अवैध है और यदि कोई चीज़ लाभदायक है तो वह अवैध नहीं बल्कि वैध ठहराई जाएगी।

इस्लाम ने जीवन के दूसरे विभागों की तरह आर्थिक मामले में भी इसका पूरा ध्यान रखा है कि किसी व्यक्ति पर अत्याचार न हो और न वह किसी पर अत्याचार करे। इसी लिए उसने उन सभी रास्तों को बन्द कर देना चाहा है जिनके द्वारा अत्याचार और अन्याय को फलने-फूलने का अवसर मिलता है। उसने धनोपार्जन के अवैध तरीक़ों पर पाबन्दी लगा दी और आदेश दिया कि अवैध तरीक़ों से धन अर्जित करने से बचा जाए। क़ुरआन में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

"ऐ ईमान लानेवालो! आपस में एक-दूसरे के माल ग़लत तरीक़े से न खाओ, यह और बात है कि तुम्हारी आपस की सहमति से कोई सौदा हो।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-29)

इस सिलसिले में इस्लाम में चोरी, विश्वासघात, वेश्यावृत्ति (Prostitu-

tion), शराब, जुआ और ब्याज आदि का निषेध किया गया है। धन की पूजा और धन के लोभ की निन्दा करते हुए कृपणता और जमाख़ोरी (Hoarding) करने से रोका गया है और अपव्यय करनेवालों को शैतान का भाई कहा गया है। प्रत्येक मामले में मध्यमार्ग अपनाने की प्रेरणा दी गई है। इस्लाम ने ऐसे मामलों को अवैध ठहराया है जिससे झगड़े के द्वार खुलते हों। उदाहरणार्थ मूल्य और माल निश्चित न हो या ख़रीदार ने माल को देखा न हो और यह यक़ीन न किया जा सकता हो कि जो माल उसे दिया जाएगाा अनिवार्यतः वह उससे राज़ी होगा। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत उन मामलों का भी निषेध किया गया है जिनमें क़ीमत और माल में भी किसी एक के सौंपने का अधिकार मामला करनेवाले के हाथ में न हो। उदाहरणार्थ क़ीमत ख़रीदार के अधिकार में न हो या बेचनेवाले के हाथ में चीज़ न हो। नबी (सल्ल॰) ने कहा है कि "जो चीज़ तुम्हारे हाथ में न हो उसकी बिक्री न करो।" विवाद पैदा होने की आशंका को देखते हुए नबी (सल्ल॰) ने कहा है, "जो कोई गेहूँ ख़रीदे तो उस समय तक न बेचे जब तक कि उसको अपने क़ब्ज़े में नहीं कर लेता।" क्रय-विक्रय के मामलों में ऐसे तरीक़ों को भी अपनाने से रोक दिया गया है जिनसे लोगों के बीच ईर्ष्या और रुकावट उत्पन्न होने की सम्भावना और आशंका पाई जाती हो, और ऐसा न हो कि कुछ लोग आगे बढ़कर दूसरे लोगों की रोज़ी कमाने से वंचित कर दें। इसी लिए कहा गया है—

> "आबादी से निकलकर बंजारों को रास्ते में जाकर न पकड़ो। एक व्यक्ति दूसरे के सौदे में हस्तक्षेप करके सौदा न करे। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बोली पर बोली न दे, और दूसरों को ख़रीदारी से रोक देने के उद्देश्य से बोली न बढ़ाई जाए और नगरवाला ग्रामीण की ओर से सौदे का मुख़्तार न बने।"

लाभ कमाने और अनाज की क़ीमतें बढ़ाने के उद्देश्य से उसे रोके रखना वैध नहीं। यह जनसामान्य के लिए हानिकारक और दुखदायी है। इससे नागरिक-व्यवस्था में बिगाड़ उत्पन्न होता है। इसी लिए पैग़म्बर (सल्ल॰) ने कहा है, "जमाख़ोरी करनेवालों पर धिक्कार है।"

अपने माल की उन्नति के लिए प्रयास करना वैध है, बल्कि समाज के

स्थायित्व के लिए यह आवश्यक भी है। एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर व्यापार करना, लोगों के माल को कोशिश करके विक्रय करा देना, उत्तम चीज़ें तैयार करना, अपनी योग्यता और कुशलता के द्वारा कोई लाभदायक चीज़ का आविष्कार करना, ऐसे समस्त कार्य इस्लाम की दृष्टि में प्रशंसनीय हैं जिनसे लोगों की आर्थिक स्थिति के बेहतर होने की आशा की जा सकती हो। अलबत्ता इस सम्बन्ध में इस बात का ख़याल रखना आवश्यक है कि संसाधन ऐसे अपनाए जाएँ जिनकी मूलात्मा सहयोग हो। ऐसे तरीक़ों का अपनाना निषिद्ध होगा जिनसे समाज का कोई वर्ग अत्यन्त कठिनाई में पड़ता हो या जिनसे जन-सामान्य के जीवन में तंगी पैदा होती हो।

कोई बड़ा कारोबार अकेले नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक है कि दूसरे व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो। इसी लिए साझेदारी, 'मुज़ारबत' और 'मुज़ारआ' आदि को इस्लाम ने वैध ठहराया है। दो व्यक्ति मिलकर कोई व्यापार करते हैं, एक की पूँजी है और दूसरे की मेहनत। समझौते के अनुसार वे लाभ परस्पर बाँट लेते हैं। पारिभाषिक शब्दों में उसे 'मुज़ारबत' कहते हैं। 'मुज़ारआ' का तरीक़ा कृषि में अपनाया जाता है। एक व्यक्ति भूमि और बीज जुटाता है और दूसरा खेती करने में अपनी मेहनत लगाता है। इस प्रकार जो अनाज पैदा हो उसमें दोनों साझी हों, यह मुज़ारअत है। आर्थिक सहयोग और साझेदारी के ऐसे सारे ही तरीक़े वैध हैं। बस शर्त यह है कि दोनों पक्षों के बीच जो शर्तें तय हों उनकी पूरी पाबन्दी की जाए। अलबत्ता समझौते और शर्तों में इसका ध्यान रखना ज़रूरी है कि वे ऐसी न हों जिनमें हराम को हलाल या हलाल को हराम ठहरा दिया गया हो।

कमाई के अवैध तरीक़ों को त्यागने के पश्चात् मनुष्य को इसका पूरा अधिकार प्राप्त है कि वह आजीविकोपार्जन के लिए वैध तरीक़े अपनाए। खेती या व्यापार आदि के माध्यम से धन कमाने का उसे पूर्ण अधिकार है।

धन कहाँ ख़र्च हों? ख़र्च करने के सही तरीक़े क्या हैं? इस सम्बन्ध में सही मार्गदर्शन हमें इस्लाम ही के द्वारा प्राप्त होता है। भौतिकवादी प्रवृत्ति के लोग तो धन को केवल अपने-आपपर ख़र्च करना जानते हैं। या फिर ऐसे लोग अपने धन को और अधिक बढ़ाने के ध्येय से उसे कारोबार आदि में

लगाते हैं। इसके विपरीत इस्लामी दृष्टिकोण से अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर उचित सीमा के अन्दर ख़र्च करने के अतिरिक्त ख़र्च के बहुत-से मद हैं जो अपने-आपपर ख़र्च करने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ सत्य के प्रचार एवं प्रसार के लिए माल ख़र्च करना, सामाजिक कार्यों के लिए माल ख़र्च करना, नातेदारों, अनाथों, दीन-दुखियों और मुसाफ़िरों तथा ज़रूरतमन्दों की ज़रूरतें पूरी करने में या ग़ुलामी से लोगों को आज़ाद करने या ऋण के बोझ से दबे हुए लोगों को ऋण से मुक्त कराने आदि में माल ख़र्च करना। इस प्रकार का ख़र्च करना हमारे ईमान की अपेक्षा है। इसी प्रकार इस्लाम हमें आदेश देता है कि हम नातेदार पड़ोसी, अपरिचित पड़ोसी और साथ उठने-बैठनेवालों के साथ सद्व्यवहार करने और अभाव-ग्रस्त लोगों की सहायता करने में भी अपना माल ख़र्च करें जो अल्लाह के मार्ग में ऐसे घिर गए हों कि धरती में अपनी रोज़ी कमाने के लिए दौड़-भाग नहीं कर सकते।[1]

ख़र्च का एक महत्वपूर्ण मद आर्थिक प्रायश्चित भी है। अपने गुनाहों

---

1. 1998 ई॰ में अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार प्राप्त करनेवाले प्रोफ़ेसर अमृत्य सेन अपने अध्ययन, खोज और अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निजी लाभों के चतुर्दिक घूमते रहने के बदले अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु सामाजिक कल्याण होना चाहिए। अर्थ-व्यवस्था के विषय में आवश्यक है कि उसमें परोपकार और जनसेवा की भावना काम कर रही हो। पूँजी और बाज़ार पर आधारित आज के अर्थ-तंत्र में नैतिकता और मानवीय मूल्यों की उपेक्षा कर दी गई है। इसकी शिकायत रस्किन ने भी आज से एक सदी पूर्व 'Unto the Last' में की थी। प्रो॰ सेन की दृष्टि में अर्थशास्त्र को 'कल्याणकारी अर्थशास्त्र' होना चाहिए। जब तक आपस के सामाजिक सम्बन्धों और परस्पर एक-दूसरे के अधिकारों के मूल्यों को महत्व नहीं दिया जाता किसी देश की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। देश के केवल पूँजीपति वर्ग की ख़ुशहाली को देश और राष्ट्र की ख़ुशहाली नहीं कहा जा सकता। वह अर्थ-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण और ज़ुल्म पर आधारित है जिसमें ग़रीबों, मुहताजों और बेरोज़गारों को बिलकुल अनदेखा कर दिया गया हो। एक चौंका देनेवाली सच्चाई यह है कि 1944 ई॰ का बंगाल का आकाल, जिसमें 30 लाख लोगों की मृत्यु हुई थी, अनाज की कमी के कारण नहीं, बल्कि उन लोगों की अयोग्यता के कारण पड़ा था जो सरकार की ओर से अनाज के वितरण के काम पर नियुक्त थे।

और कोताहियों के निवारण के लिए इस्लाम में आर्थिक प्रायश्चित का नियम रखा गया है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति क़सम खाकर क़सम तोड़ दे तो उसे दस मुहताजों को खाना खिलाना होगा या उनको कपड़ा देना होगा या फिर एक ग़ुलाम आज़ाद करना होगा और जो ऐसा न कर सके तो वह तीन दिन के रोज़े रखे। (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-89)

फिर ज़कात को इस्लाम के पाँच अरकान (स्तम्भों)—ईमान, नमाज़, ज़कात, रोज़ा और हज—में से तीसरा रुक्न (स्तम्भ) क़रार दिया गया है और बताया गया है कि ज़कात हमेशा ही इस्लाम का रुक्न रही है। ज़कात के अतिरिक्त मीरास (मृतक द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति) के बँटवारे के द्वारा भी इस्लाम माल को एक जगह रखने के बदले उसे आदमी के नातेदारों में फैला देता है। विरासत का क़ानून निर्धारित करने के साथ इस्लाम ने आदमी को अपने माल के सम्बन्ध में वसीयत करने का भी अधिकार दे रखा है। वह जिनको इसका पात्र समझता हो उन्हें अपने उस माल में से जिसे छोड़कर वह दुनिया से जा रहा है, हिस्सा देने की वसीयत कर सकता है। वह इसका भी अधिकार रखता है कि जनहित के कामों के लिए भी वसीयत कर दे। अलबत्ता उसका दो तिहाई (2/3) माल अनिवार्यतः मीरास के क़ानून के तहत वितरित होगा। उसे बस एक तिहाई (1/3) माल तक की वसीयत करने का अधिकार दिया गया है।

इसके अतिरिक्त सामान्य सदक़ा और ख़ैरात या दान करने पर भी इस्लाम लोगों को उभारता है। सदक़ों के द्वारा ग़रीबों और ज़रूरतमन्दों के साथ उपकार और सहानुभूति का प्रदर्शन होता है। मुहताज ही नहीं, जो खाते-पीते लोग हैं उनके साथ भी भाईचारे और सहानुभूति का प्रदर्शन उपहार और तोहफ़े के द्वारा होता है। पैग़म्बर (सल्ल॰) ने दान और सदक़ा पर ही नहीं, उपहार भेजने पर भी उभारा है, ताकि समाज के हर वर्ग के साथ भाईचारे और प्रेम का सम्बन्ध सुदृढ़ हो सके।

ख़र्च का एक महत्वपूर्ण ज़रिआ वक़्फ़ है, अर्थात् कोई माल या जायदाद ज़रूरतमन्दों के लिए इस प्रकार प्रदान कर दिया जाए कि उसका मूल हमेशा शेष रहे और उसके लाभों से ज़रूरतमन्दों की ज़रूरत पूरी होती रहे।

इस्लाम की राजनीतिक व्यवस्था

राजनीति और शासन मानव-जीवन का एक महत्वपूर्ण विभाग है। दुनिया में शान्ति की स्थापना की दिशा में शासन बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। लेकिन शासन पर यदि उन लोगों का अधिकार हो जो स्वेच्छाचारी और दुनिया के लोभी हैं तो उस शासन के द्वारा धरती में ऐसा फ़साद और बिगाड़ उत्पन्न हो सकता है जिसका सामान्य स्थिति में अनुमान नहीं किया जा सकता। इस्लाम ने जिस प्रकार जीवन के विविध विभागों में हमारा मार्गदर्शन किया है उसी प्रकार राजनीतिक मामलों में भी उसने हमें राह दिखाई है और वह अपने अनुयायियों को इसका पाबन्द ठहराता है कि वे जीवन के अन्य मामलों की तरह राजनीतिक मामलों में भी इस्लामी शिक्षाओं का पालन करें। इस्लाम, धर्म और राजनीति में कोई अन्तर नहीं करता।

इस्लामी शिक्षाओं की दृष्टि से जगत् के सम्पूर्ण राज्य का स्रष्टा, पालक और उसका वास्तविक शासक अल्लाह ही है। उसकी सत्ता और शासन में कोई उसका साझेदार नहीं है। वही अकेला सम्पूर्ण जगत् का शासक है। सारे ही इनसान अल्लाह के बन्दे (दास) हैं और उनकी हैसियत पालित और अधीनस्थ ग़ुलाम की है। क़ुरआन में है—

"क्या तुम्हें नहीं मालूम कि आसमानों और ज़मीन की बादशाही अल्लाह ही की है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-107)

एक दूसरी जगह कहा गया है—

"और न बादशाही में उसका कोई शरीक (साझी) है।"

(क़ुरआन, सूरा-25 फ़ुरक़ान, आयत-2)

इसलिए अल्लाह ही को यह हक़ पहुँचता है कि हम उसके आदेशों का पालन बिना किसी आक्षेप के करें। आदेश देने और निर्णय करने का हक़

उसी को और सिर्फ़ उसी को प्राप्त है। इनसान की ज़िम्मेदारी यह है कि वह जी-जान से अपने रब का आज्ञापालन करे। क़ुरआन में है–

"जान लो, सृष्टि और आदेश उसी के लिए है।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-54)

अल्लाह के आदेशों से इनसान कैसे परिचित हो? अल्लाह के आदेश उसके रसूलों के द्वारा मानवों तक पहुँचे हैं। रसूल न सिर्फ़ यह कि अल्लाह की इच्छाओं और उसके आदेशों से लोगों को अवगत कराता है, बल्कि वह अपने वचन और कर्म से अल्लाह के दिए हुए आदेशों और मार्गदर्शनों की व्याख्या भी करता है। रसूल वास्तव में धरती पर अल्लाह का प्रतिनिधि होता है। इसलिए उसके मार्गदर्शन में जीवन व्यतीत करने में ही हमारा कल्याण और मुक्ति है। अल्लाह के रसूल का विरोध वास्तव में अल्लाह के मुक़ाबले में विद्रोह और उद्दण्डता के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। अल्लाह की उतारी हुई किताब और रसूल की सुन्नत (तरीक़ा) के आधार पर इस्लामी राज्य का गठन होता है। इस्लामी राजनीतिक दृष्टिकोण से अल्लाह की सम्प्रभुता के अन्तर्गत इस्लामी राज्य की स्थापना हो सकती है। अल्लाह के राज्य में उसी के दिए हुए आदेशों के अनुसार और उसकी निर्धारित की हुई मर्यादाओं का आदर करते हुए उसका उद्देश्य पूरा करना ही इस्लामी राज्य का वास्तविक दायित्व होता है। इस्लामी राज्य में सम्प्रभुता अल्लाह की होती है। उसमें इनसान की ख़िलाफ़त (शासन) अल्लाह की सम्प्रभुता के अन्तर्गत ही होती है। वास्तविकता यह है कि इस्लामी समाज के हर व्यक्ति को ख़िलाफ़त के हक़ व अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य की व्यवस्था चलाने के लिए लोग अपने अधिकारों को अपने चुने हुए एक अध्यक्ष या अमीर को सौंप देते हैं, वह उनकी ओर से ख़िलाफ़त की ज़िम्मेदारियों को पूरा करने की कोशिश करता है।

सामान्य जनतांत्रिक देशों में सम्प्रभुता जनता की होती है और राज्य का कर्त्तव्य यह होता है कि वह जनता की इच्छा और आकांक्षा को पूरा करे। इसके विपरीत इस्लामी राज्य उस क़ानून का पाबन्द होता है जो क़ानून अल्लाह का दिया हुआ होता है।

इस्लामी राज्य में ख़िलाफ़त का अधिकारी कोई एक व्यक्ति, वर्ग या परिवार नहीं होता, बल्कि वह गरोह व समुदाय ख़िलाफ़त का अधिकारी होता है जिसने अल्लाह की सम्प्रभुता को स्वीकार करते हुए राज्य की स्थापना को व्यावहारिक रूप दिया हो। ईमानवालों के गरोह का प्रत्येक व्यक्ति ख़िलाफ़त में बराबर का भागीदार होता है। किसी व्यक्ति या वर्ग को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता कि वह सामान्य मोमिनों से ख़िलाफ़त के अधिकार अपने हक़ में छीन ले। क़ुरआन में है—

> "अल्लाह ने उन लोगों से, जो तुममें ईमान लाए और उन्होंने सुकर्म किए, वादा किया है कि वह उन्हें धरती में अवश्य सत्ता प्रदान करेगा जैसे उसने उनको ख़िलाफ़त प्रदान की थी जो उनसे पहले थे, और उनके लिए अवश्य ही उनके उस दीन को स्थायित्व प्रदान करेगा जिसे उसने उनके लिए पसन्द किया है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-55)

इससे मालूम हुआ कि ईमानवालों का हर व्यक्ति ख़िलाफ़त में बराबर का हिस्सेदार है। एक दूसरे स्थान पर कहा गया है—

> "और याद करो जब मूसा ने अपनी क़ौम से कहा था : ऐ मेरे लोगो, अल्लाह की उस अनुकम्पा को याद करो जो तुमपर रही है, जबकि उसने तुममें से नबी निश्चित किए और तुम्हें बादशाह बनाया।" (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-20)

यह आयत भी बताती है कि सत्ता में सभी ईमानवालों की भागीदारी होती है, अलबत्ता नुबूवत में इस तरह हिस्सेदारी नहीं होती। अल्लाह जिसको चाहता है नुबूवत प्रदान करता है। नबी या रसूल का अनुसरण एवं आज्ञापालन करना ईमानवालों का अनिवार्य कर्त्तव्य होता है। नुबूवत और रिसालत के द्वारा प्राप्त मार्गदर्शन और आदेशों से लाभान्वित होने का हर व्यक्ति को अधिकार प्राप्त है।

इस्लामी राज्य का उद्देश्य इसके सिवा और कुछ नहीं होता कि भलाई फ़ैले और धरती से ज़ुल्म या अन्याय का उन्मूलन हो। अतएव क़ुरआन में

आया है—

"निश्चय ही हमने रसूलों को स्पष्ट प्रमाणों के साथ भेजा, और उनके साथ किताब और तुला उतारी ताकि लोग इनसाफ़ पर क़ायम हों, और लोहा भी उतारा जिसमें बड़ी दहशत है और लोगों के लिए कितने ही लाभ हैं।" (क़ुरआन, सूरा-57 हदीद, आयत-25)

एक अन्य स्थान पर कहा गया—

"ये वे लोग हैं कि अगर धरती में हम उन्हें सत्ता प्रदान करें तो वे नमाज़ का आयोजन करेंगे और ज़कात देंगे, और भलाई का आदेश देंगे और बुराई से रोकेंगे, और सारे मामलों का अन्तिम परिणाम अल्लाह ही के हाथ में है।"

(क़ुरआन, सूरा-22 हज, आयत-41)

इस्लाम ने भलाई और बुराई दोनों के स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किए हैं। अल्लाह की पसन्द, नापसन्द कोई पहेली नहीं है। इस्लामी राज्य युग और उस वातावरण को जो उसे प्राप्त हो, उसको अपने समक्ष रखते हुए सुधारात्मक कार्यक्रम निश्चित कर सकता है, और उसे ऐसा करना चाहिए। मानव-जीवन का कोई विभाग हो उसमें नैतिक सिद्धान्तों और जीवन-मूल्यों को अनिवार्यतः ध्यान में रखना होगा। राज्य इस बात के लिए तैयार नहीं होगा कि देश या राष्ट्र के हित की दृष्टि से सच्चाई, ईमानदारी और न्याय की उपेक्षा करे और देश या राष्ट्र की आवश्यकताओं व हितों के उद्देश्य से झूठ, धोखा और अन्याय को स्वीकार करने पर तैयार हो सके। वह शक्ति को अत्याचार और क़हर ढाने को नहीं, बल्कि न्याय की स्थापना का साधन समझेगा। सत्ता और शक्ति को हमेशा एक अमानत और धरोहर समझेगा जिसका एक दिन उसे अल्लाह के पास हिसाब देना होगा।

व्यक्ति ही नहीं राज्य भी अगर किसी से कोई समझौता करता है तो उसे निभाया जाएगा। वह अपने अधिकारों को ही नहीं अपने कर्त्तव्यों को भी याद रखेगा। मानवाधिकार क्या हैं और नागरिकता के अधिकार क्या होते हैं? ये सब उसपर स्पष्ट कर दिए गए हैं।

मानवता का आदर करना अनिवार्य है। मानव के प्राण और उसके धन की रक्षा अनिवार्य है। अकारण किसी का ख़ून नहीं बहाया जा सकता। स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों एवं बीमारों या आहत लोगों पर किसी भी दशा में हाथ नहीं उठाया जा सकता। स्त्री के सतीत्व की रक्षा हर हाल में की जाएगी। उसे अपमानित नहीं किया जा सकता। भूखे को रोटी और नंगे को कपड़ा चाहिए। बीमार या घायल व्यक्ति इलाज और तीमारदारी का पात्र होता है। राज्य इस सम्बन्ध में उदासीन नहीं रह सकता।

राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहने-बसनेवालों का कर्त्तव्य होगा कि वे—

1. राज्य के आदेशों का पालन करें।
2. क़ानून और नियमों का पालन करें ताकि व्यवस्था बनी रह सके।
3. भलाई के कामों में सरकार के साथ सहयोग करें।
4. प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में जान-माल से सहयोग करें।

जो ग़ैर-मुस्लिम इस्लामी राज्य की सीमा में रह रहे होंगे, जिनकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी इस्लामी राज्य ने ली हो, परिभाषा में उन्हें 'ज़िम्मी' कहा जाता है। उन ज़िम्मियों की जान, माल और आबरू की रक्षा उसी प्रकार की जाएगी जिस प्रकार सामान्य मुसलमानों की जान-माल और प्रतिष्ठा की रक्षा की जाती है।

फ़ौजदारी और दीवानी के क़ानूनों में मुस्लिम और ज़िम्मी के बीच कोई भेदभाव न होगा।

ज़िम्मियों के पर्सनल लॉ में राज्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। वे इस मामले में पूर्णतः स्वतन्त्र होंगे।

वे अपने धार्मिक दृष्टिकोण, आस्थाओं और धार्मिक रीति-रिवाजों तथा पूजा और आराधना में स्वतन्त्र होंगे। ज़िम्मी को अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होगा।

राज्य का कार्य चलाने के लिए एक अमीर (अध्यक्ष) का निर्वाचन होगा। वह व्यक्ति अमीर के पद के लिए सबसे अधिक योग्य होगा जो ईश-

परायणता और इस्लाम की मूलात्मा से परिचित हो तथा विचार और चिन्तन में सबसे बढ़कर हो और इन पहलुओं से अधिक-से-अधिक लोग उसपर भरोसा करते हों।

अमीर के सहयोग के लिए एक मजलिसे-शूरा (मंत्रणा समिति) होगी। शूरा के सदस्य भी लोगों द्वारा निर्वाचित होंगे। अमीर को शासन का अधिकार उसी समय तक प्राप्त होगा जब तक लोगों का उसपर भरोसा होगा। आम नागरिकों को भी इसका पूरा अधिकार प्राप्त होगा कि अगर वे आवश्यक समझें तो शासन या अमीर की आलोचनाएँ कर सकें।

ईश-प्रदत्त क़ानूनों में फेर-बदल नहीं किया जा सकता। अलबत्ता उनकी रौशनी में नई परिस्थितियों और समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नए क़ानून बनाए जा सकते हैं। इन मामलों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है जिनके सम्बन्ध में शरीअत ने स्पष्ट आदेश न देकर उनको हमारी बुद्धि और विवेक तथा मीमांसिक क्षमता के हवाले कर दिया है। इस प्रकार के मामलों एवं समस्याओं में मजलिसे-शूरा क़ानून बना सकती है। लेकिन आवश्यक है कि वे क़ानून इस्लाम की मूल आत्मा के अनुकूल हों।

इस्लामी राज्य में अदालत (न्यायपालिका) स्वतंत्र होगी। वह व्यवस्थापिका के अधीन नहीं होगी, बल्कि वह सीधे अल्लाह के समक्ष उत्तरदायी होगी। अदालत के जजों आदि की नियुक्ति सरकार ही करेगी, लेकिन अदालत का निर्णय निष्पक्ष और बेलाग होगा। सरकार या सर्वोच्च पदाधिकारी के विरुद्ध भी मुक़द्दमा क़ायम किया जा सकता है और अदालत सर्वोच्च पदाधिकारी के विरुद्ध भी फ़ैसला दे सकती है।

सांराश यह कि इस्लामी शासन एक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र के द्वारा अस्तित्व में आता है जो अपनी इच्छा से अपने-आपको अल्लाह के क़ानून के अधीन कर दे और उन आदेशों के अनुकूल शासन-कार्य चलाए जो अल्लाह ने अपनी किताब और अपने रसूल के द्वारा प्रदान किए हैं। यह राज्य वास्तव में एक सैद्धान्तिक राज्य है जो उन ही लोगों के द्वारा चलाया जा सकता है जो उसकी धारणाओं और सिद्धान्तों को सत्य स्वीकार करते हों, लेकिन वे

सारे नागरिक अधिकार ग़ैर-मुस्लिम प्रजा को भी देता है जो वह उन लोगों को देता है जो इस्लामी राज्य के आधारभूत सिद्धान्तों और उसके नियमों को स्वीकार करते हैं।

सैद्धान्तिक राज्य होने के कारण राज्य रंग, नस्ल, भाषा और क्षेत्र के आधार पर पक्षपातों से अपने को अलग रखेगा और सिर्फ़ उच्चतम नियमों पर स्थापित होगा। इस्लामी राज्य जैसा कि कहा गया, ख़ुदा के दिए हुए क़ानून का पाबन्द होता है। वह व्यक्तियों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित नहीं करता। इस प्रकार राज्य में व्यक्तिगत व्यक्तित्व के विकास के पूरे अवसर प्राप्त होते हैं। भलाई और कल्याण के कामों में सरकार को भी उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। शासन व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न करने के बदले वे जान-माल से उसकी रक्षा करते हैं।

धर्म का बोलबाला

इस्लाम एक पूर्ण धर्म है जिसे मानवता के मार्गदर्शन के लिए जगत्-सृष्टा ने निर्धारित किया है। यह धर्म (दीन) चूँकि पूर्ण है, इसलिए मानव के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है। जीवन के किसी विभाग में भी वह इनसानों को मार्गदर्शन से वंचित नहीं करता। विचार एवं धारणा का विषय हो या पूजा और अराधना का, या इनसान की आर्थिक व राजनीतिक समस्याएँ हों या सामाजिक न्याय की समस्या हो, वह जीवन के प्रत्येक विभाग में हमारा सही मार्गदर्शन करता है। इस्लाम वास्तव में दीन के पूर्ण अर्थों में दीन (धर्म) है। इसे हम मात्र पूजा-पाठ का दीन नहीं कह सकते। इसकी अपनी सामाजिक व्यवस्था भी है और आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था भी। तथ्य यह है कि मानव-जीवन एक पूर्ण इकाई की हैसियत रखता है। इसके सारे ही विभाग परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इनमें से किसी एक को भी अलग नहीं किया जा सकता। इस्लाम अल्लाह की पूर्ण आज्ञाकारिता और बन्दगी का नाम है। यह आज्ञाकारिता और बन्दगी जीवन के प्रत्येक मामले में अपेक्षित है। हम उस व्यक्ति को ख़ुदा का आज्ञाकारी नहीं कह सकते जो अल्लाह पर ईमान तो रखता है, उसके आगे अपना सिर भी झुकाता है, लेकिन जीवन के मामलों में चाहे वह लेन-देन और व्यापार का मामला हो या रहन-सहन और एक-दूसरे के अधिकारों के मामले हों, या शासन-व्यवस्था की समस्याएँ हों, वह उन सारे मामलों में अपने को आज़ाद समझता है। उसे कदापि अल्लाह का वफ़ादार और आज्ञाकारी बन्दा नहीं कहा जा सकता। अल्लाह का आज्ञाकारी बन्दा तो वही होगा जो जीवन के हर क्षेत्र में और जीवन के सभी मामलों में अल्लाह के आदेश का पाबन्द हो। अल्लाह ने चूँकि जीवन के सभी मामलों में वह्य के द्वारा हमारा मार्गदर्शन किया है, इसलिए जीवन के किसी क्षेत्र में अगर इनसान उसकी अवज्ञा करता है तो अल्लाह के यहाँ उसकी गणना उसके अवज्ञाकारियों और विद्रोहियों में होगी।

अल्लाह ने अपना दीन यूँ ही निरुद्देश्य नहीं उतारा है। उसने तो इसे इसलिए उतारा है कि लोग उसका पालन करके दुनिया को शान्तिमय बना दें। कहीं भी और किसी भी विभाग में अन्याय शेष न रहे। अल्लाह के न्याय पर आधारित जीवन-प्रणाली को अपनाएँ और इसे अपना परम कर्तव्य समझें।

क़ुरआन पूर्णतः अल्लाह के दीन ही को प्रस्तुत करता है। इसलिए हम देखते हैं कि क़ुरआन से मनुष्य को केवल यही नहीं कि उसे अपने स्रष्टा या जगत्-प्रभु का ज्ञान प्राप्त होता है, बल्कि उसके व्यावहारिक जीवन के लिए भी यह एक मार्गदर्शक ग्रंथ है। वह बताता है कि जीवन-पद्धति क्या है? न्याय व इनसाफ़ किसे कहते हैं? वह कौन-सी नीति है जो अल्लाह की दृष्टि में पथभ्रष्टता, उद्दण्डता और सर्वथा अन्याय और बिगाड़ है? अल्लाह को उपद्रव और बिगाड़ तथा अन्याय की नीति कदापि पसन्द नहीं। वह स्वयं न्यायप्रिय है। न्याय को पसन्द करता है। अन्याय और अत्याचार को सहन नहीं कर सकता।

अल्लाह मनुष्य को नैतिकता, चारित्र्य और आध्यात्मिकता के शिखर पर देखना चाहता है, उस उच्चता पर जिससे बढ़कर हम किसी उच्चता की कल्पना भी नहीं कर सकते। वह हमारे हृदयों को हर प्रकार की गन्दगी से मुक्त और उत्तम भावनाओं और अनुभूतियों से सुसज्जित देखना चाहता है। ख़ुदा स्वयं दानशील है। वह चाहता है कि मनुष्य दानशीलता और उदारता को अपनी पहचान बनाए। अल्लाह के नाम व गुण जिनका उल्लेख क़ुरआन में विस्तार से किया गया है, मानव-जीवन के लिए दर्पण है। अल्लाह अपने गुणों की प्रतिछाया मानव-जीवन में देखना चाहता है। अपने और अल्लाह के बीच अनुकूलता पैदा करना और इस अनुकूलता को स्थिर रखना ही सर्वोतम और शुभ जीवन प्रणाली है, जिसमें भलाई भी है और सौन्दर्य का सम्बन्ध भी उसी से है, और अमृत्व भी इसी से प्राप्त हो सकता है। शान्ति और हृदयानन्द का रहस्य भी इसी में निहित है। एक मौलिक विश्वव्यापी सिद्धान्त (Universal Settle Order) की तलाश में दुनिया के बड़े-बड़े विद्वान और चिन्तक भटकते रहे हैं चाहे उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई हो

या न हुई हो। भारत के ऋषियों ने इसे ऋतम की संज्ञा से अभिहित किया। चीन के लाउत्से ने इसको ताओ (Tao) कहा। कभी यहाँ अल्लाह के और अपने मध्य समानता (Similarity) पैदा करने की बात कही गई। लेकिन सत्य और हर प्रकार की अतिशयता व संकीर्णता से मुक्त धारणा अनुकूलता की धारणा है। अर्थात् अपने और अल्लाह के मध्य ऐसी अनुकूलता बनाना जिसमें किसी प्रकार की विषमता, टकराव और संघर्ष की कोई गुंजाइश बाक़ी न रहे। बन्दों का जीवन ईश्वरेच्छा के साँचे में बिलकुल ढल जाए। क़ुरआन में है–

"और जब तुम उनके सामने कोई निशानी नहीं लाते तो वे कहते हैं, "तुम स्वयं कोई निशानी क्यों न छाँट लाए? कह दो, मैं तो बस उसी का अनुसरण करता हूँ जो मेरे रब की ओर से मेरी ओर प्रकाशना की जाती है, यह तुम्हारे रब की ओर से अन्तर्दृष्टियों का प्रकाशपुंज है और ईमान लानेवालों के लिए मार्गदर्शन और दयालुता है।" (क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-203)

मतलब यह है कि क़ुरआन केवल ज्ञान एवं चिन्तन की समस्याओं ही में तुम्हारा मार्गदर्शन नहीं करता बल्कि वह व्यवहार-नीति की भी शिक्षा देता है और इसका परिणाम सर्वथा दयालुता है।

फिर क़ुरआन अपने अनुयायियों को जिस पद पर देखना चाहता है वह यह है कि–

"ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! अल्लाह के लिए गवाही देते हुए दृढ़तापूर्वक न्याय पर जमे रहो।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-135)

एक अन्य जगह कहा–

"और इसी प्रकार हमने तुम्हें एक दरमियानी उम्मत समुदाय बनाया है ताकि तुम समस्त मनुष्यों पर गवाह हो, और रसूल तुमपर गवाह हो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-143)

समस्त मनुष्यों को सत्य से परिचित कराना क़ुरआन के अनुयायियों का

पदीय उत्तरदायित्व है। क़ुरआन की हैसियत, "सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए मार्गदर्शक" की है। उसे किसी एक भू-भाग या किसी विशेष जाति की चीज़ समझना ग़लत है। वह सम्पूर्ण जगत् पर जीवन का रहस्य खोलना चाहता है, वह सम्पूर्ण संसार को मर्मज्ञ और अभिज्ञ देखना चाहता है।

वह चाहता है कि मनुष्य जान ले कि उसका भाग्य क्या है? उसका स्थान और उसकी वास्तविक मंज़िल क्या है? वह जान ले कि शाश्वत जीवन, जिसकी कामना प्रत्येक दिल में रखी गई है, किस प्रकार प्राप्त होता है? मनुष्य के लिए महाविनाश और घाटा किसमें है और उसके कल्याण और उसकी सफलता का वास्तविक अर्थ क्या होता है?

क़ुरआन बताता है कि सत्य और न्याय के पास अगर शक्ति और सत्ता नहीं तो अत्याचारी कभी भी सत्य के दीप को प्रज्वलित नहीं देख सकते। उनका प्रयास यही होगा कि जिस प्रकार भी सम्भव हो दीपक जलने न पाए और यदि कहीं जलने लगा हो तो उसे जिस प्रकार भी सम्भव हो बुझा दिया जाए। फिर न्याय और सत्य के पास यदि सत्ता और शक्ति नहीं तो सही अर्थों में वह मानवता की सेवा नहीं कर सकता। दुनिया में शक्ति और सत्ता का अधिकारी यदि कोई हो सकता है तो वह सत्य और न्याय-व्यवस्था ही हो सकती है। सत्ता अगर किसी के हाथ सौंपी जा सकती है तो वे वही लोग हो सकते हैं जो अज्ञान के स्थान पर ज्ञान और अन्याय एवं उद्दण्डता के बजाय सत्य, न्याय और इनसाफ़ के ध्वजावाहक हों। अत्याचारी और उद्दण्ड लोग जो ज़ुल्म और बिगाड़ पैदा करने के सिवा और कुछ भी नहीं जानते, जो मानवता के अर्थ से अपरिचित हैं और जो सामान्य पशुओं के स्तर से भी नीचे गिरे हुए हैं, तत्तकाल लाभ, भौतिकवाद और भोग-विलास को जो जीवन की पराकाष्ठा समझते हैं, जिनके दिल इतने तंग और संकुचित हैं कि वे स्वयं अपने निकट सम्बन्धियों के साथ भी न्याय नहीं कर सकते, वे मानवता के मार्गदर्शक और सेवक कैसे बन सकते हैं? ऐसे लोगों के हाथ में यदि सत्ता और शक्ति है तो दुनिया में कभी भी सुख-शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। क्या इसके साक्ष्य के लिए स्वयं वर्तमान युग पर्याप्त नहीं है?

सत्य धर्म अपने स्वभाव और प्रकृति की दृष्टि से पराभूत नहीं, प्रभुत्वशाली रहना चाहता है। सत्य यह है कि प्रभुता यदि उसकी प्रकृति न हो तो वह सत्य-धर्म ही नहीं है। आप स्वयं विचार कीजिए कि वह संगीत ही क्या है तरन्नुम से जिसे वैर हो, जिसे यह भय लगा हुआ हो कि कहीं कोई कान उसे सुन न ले और कहीं कोई व्यक्ति उसे पाकर गा न उठे। वह क़ानून वास्तव में क़ानून ही नहीं है जो लागू होना न चाहता हो। ठीक इसी प्रकार वह व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता का हितैषी नहीं हो सकता जो सार्वभौमिक चिन्तन और दृष्टिकोण का वाहक न हो। मानवता का सम्बन्ध किसी क्षेत्र-विशेष और भू-भाग से नहीं है और न मानवता किसी विशिष्ट जाति, क़बीला या वंश का नाम है। न मानवता का सम्बन्ध किसी विशिष्ट भाषा के बोलनेवालों से है और न मानवता गोरे और काले का नाम है। जब तक हमारे चिन्तन में व्यापकता न आ जाए और वह सार्वभौमिक न हो जाए धरती से अन्याय, ज़ुल्म और फ़साद का उन्मूलन सम्भव नहीं है।

इस्लाम चूँकि अल्लाह का उतारा हुआ एक ऐसा धर्म है जो हर प्रकार के दोष से मुक्त है, जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक है, जिसकी शिक्षा न्याय है, अन्याय नहीं। जो त्याग और उत्सर्ग को पसन्द करता है। स्वार्थपरता, अहंकार और अभिमान को पसन्द नहीं करता। ईश-पूजा के अतिरिक्त वह किसी भी प्रकार की पूजा को वैध नहीं ठहराता। अन्धी देशभक्ति और राष्ट्र-भक्ति ने दुनिया को जिस अन्याय, दमन और उग्रवाद से भर दिया है उससे कौन अपरिचित हो सकता है! इसलिए सत्यानुकूल और न्याय पर आधारित विचार और कर्म की प्रणाली वही हो सकती है जो हर प्रकार की संकीर्णता, अंधविश्वास और अज्ञान से हमें बचा सके। जो हमें एक ऐसे वातावरण में साँस लेना सिखा सके जहाँ अज्ञानपूर्ण पक्षपात न हो, संकीर्णता, अनुचित दबाव और अन्याय न हो, जहाँ आज़ादी पर ताले न डाले जाते हों। जहाँ किसी के साथ भी अन्याय न हो। जहाँ उन्नति के द्वार प्रत्येक के लिए खुले हों। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को सोचने, समझने और चिन्तन-मनन करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो। जहाँ आदमी इसके लिए स्वतंत्र हो कि यदि वह अविश्वास और नास्तिकता का जीवन त्यागकर आस्तिकता और ईश-

भक्ति का जीवन व्यतीत करना चाहता हो तो उसकी राह में कोई रुकावट खड़ी करनेवाला न हो और स्वयं उसकी उच्च और पवित्र दृष्टि से लाभान्वित होने में लोगों के लिए कोई कठिनाई और बाधा न हो। किसी की नैसर्गिक स्वतंत्रता को छीन लेने का दुस्साहस कोई न कर सके। लोग सच्चाई को खुली आँखों से देख सकें। कोई व्यक्ति भी अपने न्यायपरक निर्णय के कारण सताया न जा सके। अपने निजी व्यक्तित्व की हद तक तो आदमी स्वतंत्र हो कि यदि वह नरक में जाना चाहता हो तो नरक में जाने की उसकी स्वतंत्रता भी न छीनी जाए, लेकिन ज़बरदस्ती किसी को नरक की ओर ले जाने का अधिकार किसी को प्राप्त न हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया वह यह समझने के लिए काफ़ी है कि धर्म का बोलबाला क्यों आवश्यक है, और उसे शासक के रूप में देखने की इच्छा का औचित्य क्या है। यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि धर्म की स्थापना के लिए कोई ऐसा तरीक़ा अपनाया नहीं जा सकता जिसे अन्याय या अत्याचार कहा जा सके या जो न्याय के विरुद्ध हो। जब सत्य स्वयं ही शान्ति व सुरक्षा का आवाहक है तो वह कोई ऐसा मार्ग नहीं अपना सकता जो ख़ुद उसकी अपनी प्रकृति और स्वभाव के विपरीत हो। धर्म कीं स्थापना की स्वाभाविक और उचित कार्य-प्रणाली आमंत्रण और धर्म का प्रचार-प्रसार है। लोगों के ग़लत और अज्ञान पर आधारित विचार और धारणाओं को बदलने का प्रयास किया जाएगा और उन्हें बताया जाएगा कि अल्लाह के प्रिय बन्दे कैसे होते हैं? उनका व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन कैसा होता है? वे कितने शुभचिन्तक होते हैं? लोगों को बताया जाए कि ऐसे लोगों का जीवन ही वास्तविक सौन्दर्य का दर्पण हो सकता है, और आख़िरत (परलोक) के अक्षय और आनन्दमय जीवन के वही अधिकारी होंगे। प्रभु की अवज्ञा का परिणाम कभी शुभ नहीं हो सकता। वह वास्तव में प्रभु के अवज्ञाकारियों का ठिकाना है जिसको जहन्नम या नरक से अभिहित किया जाता है। सत्य का सन्देश जिनके दिलों में उतर जाएगा, उनका जीवन बदल जाएगा। वे स्वयं सत्य के आवाहक बनकर जीना पसन्द करेंगे ताकि, वे अल्लाह के बन्दों तक अल्लाह का सन्देश पहुँचाने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। फिर ऐसे

सत्यप्रिय लोग यह कभी नहीं पसन्द कर सकते थे कि वे अपनी धरती पर सत्य के स्थान पर असत्य का प्रभुत्व देखें। उनका समाज बिलकुल बदल जाएगा। यह एक ऐसा समाज होगा जहाँ अंधेरा टिक नहीं सकता। यह समाज जीवन की पूरी व्यवस्था को स्वयं बदलकर उसे सत्य धर्म के अनुकूल कर देगा। यह समाज कभी भी इसपर राज़ी नहीं हो सकता कि जीवन के किसी विभाग में अल्लाह के आदेशों की उपेक्षा की गई हो और प्रभु के आदेशों का उल्लंघन किया जा रहा हो।

मानवों के कल्याण और भलाई के लिए प्रयास और धर्म के लिए कार्यरत रहना ये दो बातें नहीं हैं, बल्कि दोनों एक हैं। मानव की सफलता प्रभु द्वारा प्रेषित दीन (धर्म) ही से जुड़ी हुई है, और उसकी असफलता और हानि अल्लाह के दीन से अपरिचित रहने में है। दीन के प्रचार-प्रसार का अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं कि मानवों को वैचारिक और व्यावहारिक पथभ्रष्टता और लोक-परलोक के विनाश से बचा लिया जाए। वास्तव में वे सफल हों और जीवन के वास्तविक सौन्दर्य और आनन्द से वे परिचित हो सकें। यदि प्रभु की धरती पर यह प्रयास किया जा रहा है तो समझिए कि प्रभु का धर्म स्थापित और जीवन्त है। हदीस से मालूम होता है कि ईमानवालों की एक जमाअत (समूह) इसके लिए सदैव प्रयास करती रहेगी यहाँ तक कि क़ियामत आ जाएगी। यदि लड़ना पड़ा तो वह जमाअत इससे पीछे न हटेगी। बुराई, अन्याय और बिगाड़ को मिटाने की शक्ति यदि उन्हें प्राप्त है तो इस शुभ उद्देश्य के लिए शक्ति का प्रयोग ग़लत न होगा। क़ुरआन में है—

> "तुम्हें क्या हुआ है कि अल्लाह के मार्ग में और उन कमज़ोर पुरुषों, नारियों और बच्चों के लिए युद्ध न करो जो प्राथनाएँ करते हैं कि ऐ हमारे पालनहार, हमें इस बस्ती से निकाल जिसके लोग अत्यचारी हैं और हमारे लिए अपनी ओर से तू कोई समर्थक नियुक्त कर और हमारे लिए अपनी ओर से तू कोई सहायक नियुक्त कर।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-75)

प्रत्येक युद्ध और लड़ाई को अनुचित नहीं कहा जा सकता। जो लड़ाई अन्याय को बढ़ावा देने के लिए नहीं, बल्कि अन्याय को मिटाने के लिए हो और जो इसलिए हो कि सत्य के मार्ग की बाधाओं को दूर कर दिया जाए ताकि, प्रभु का अनुसरण और उसकी बन्दगी की राह पर चलना लोगों के लिए आसान हो सके और कोई व्यक्ति इसलिए न सताया जाए कि वह प्रभु से विद्रोह की राह को छोड़कर प्रभु की प्रसन्नता की चाहत में जीवन व्यतीत करना चाहता है, और उसके अपने मन में लोगों के प्रति शुभेच्छा के अतिरिक्त और कोई भावना नहीं पाई जाती।

अध्याय–5

धर्म की सेवा और इस्लामी आमंत्रण

धर्म की सेवा और इस्लामी आमंत्रण

इस्लाम सम्पूर्ण मानवता के लिए एक संदेश है। वह सीधा मार्ग है जिसपर चलकर मानवता लोक-परलोक की सफलता और कल्याण को प्राप्त कर सकती है और अल्लाह की प्रसन्नता और अनुग्रह की पात्र हो सकती है। इस्लाम वास्तव में अल्लाह के आदेशानुपालन का धर्म है। मुस्लिम वह है जो अल्लाह का आज्ञाकारी हो। इस्लाम हमें अल्लाह की उस योजना से सूचित करता है, जिसके अन्तर्गत उसने जगत् की सृष्टि की है। वह बताता है कि कौन-सी धारणाएँ सत्य हैं और मानवों के लिए कौन-से कर्म उचित हैं और कौन-से अनुचित। वह हमें इससे सूचित करता है कि किन धारणाओं और आस्थाओं को अल्लाह ने असत्य घोषित किया है और वे कौन-से कर्म हैं जो उसकी दृष्टि में सत्य और न्याय के विपरीत हैं। इस स्थिति में इस्लाम की शिक्षाओं की उपेक्षा करके किसी व्यक्ति के लिए सम्भव ही नहीं कि वह धर्म के सीधे-सच्चे मार्ग पर चल सके। क़ुरआन में स्पष्टतः कहा गया है—

> "आज मैंने तुम्हारे लिए तुम्हारे धर्म को पूर्ण कर दिया और तुमपर अपना अनुग्रह पूर्ण कर दिया और मैंने तुम्हारे लिए धर्म के रूप में इस्लाम को पसन्द किया।" (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-3)

एक दूसरे स्थान पर कहा गया—

> "जो इस्लाम के अतिरिक्त कोई और धर्म तलब करेगा तो उसकी ओर से कुछ भी स्वीकार न किया जाएगा और आख़िरत में वह घाटा उठाएगा।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-85)

ईश्वर की ओर से जितने भी नबी आए वे सब-के-सब इसी सच्चे धर्म के आमंत्रण-दाता थे। उनका यह दायित्व था कि वे अल्लाह के सन्देश को लोगों तक पहुँचाएँ और उन्हें विनाश और तबाही से बचाने की चेष्टा करें। अल्लाह के अन्तिम रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) किसी विशेष क़ौम के

लिए नहीं बल्कि संसार की समस्त क़ौमों और सम्पूर्ण मानवता के लिए रसूल बनाकर भेजे गए। नबी (सल्ल॰) ने दुनिया को जो सन्देश दिया और जिस धर्म की ओर लोगों को बुलाया वह वही है जिसकी ओर दूसरे समस्त नबी और रसूल आमंत्रित करते रहे हैं। पिछली क़ौमें नबियों की लाई हुई शिक्षाओं और सन्देशों को सुरक्षित रखने में असमर्थ रही हैं। नबियों की दी हुई शिक्षाओं में बहुत-से हस्तक्षेप हुए। जिस रूप में वे शिक्षाएँ पाई जाती हैं, उन्हें प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता। अब यह फ़ैसला करना आसान नहीं है कि उनमें सत्य कितना शेष रह गया है और असत्य की मिलावट कितनी हो चुकी है।

हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के द्वारा वास्तव में सत्य-धर्म का नवीनीकरण हुआ है। नबी (सल्ल॰) की रिसालत (पैग़म्बरी) ने सत्य-धर्म को जीवित कर दिया और आज वह पूर्ण और प्रमाणिक रूप में हमारे पास मौजूद है। यह धर्म सम्पूर्ण मानवता की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह धर्म अपनी प्रकृति की दृष्टि से भी किसी विशेष जाति और वंश में सीमित होकर नहीं रहना चाहता। इसकी प्रकृति में व्यापकता एवं सार्वभौमिकता है। यह अपने रहमत के दामन में सम्पूर्ण मानवता को समेट लेना चाहता है। लेकिन इसी के साथ इसकी विशिष्टता यह भी है कि यह ज़ोर-ज़बरदस्ती को पसन्द नहीं करता, यह धर्म संसार के सामने वरदान और दयालुता के रूप में प्रकट होता है, और चाहता है कि लोग उसे स्वयं बहुमूल्य धन और शुभ समझते हुए उससे लाभान्वित हों। किन्तु उसे दुनिया के सामने कौन प्रस्तुत करे? उसका सन्देश विभिन्न जातियों और दुनिया में बिखरी हुई करोड़ों की आबादियों तक कैसे पहुँचे? अल्लाह ने इसी आवश्यकता को देखते हुए एक ऐसे समुदाय को उठाया, जो मुस्लिम समुदाय के नाम से मशहूर है। इस समुदाय का पदीय दायित्व है कि यह ईश्वर के बन्दों तक ईश्वर का सन्देश पहुँचाने में कदापि सुस्ती न दिखाए। क़ुरआन में है--

> "तुम एक उत्तम समुदाय हो जो लोगों के सामने लाया गया है। तुम नेकी का हुक्म देते हो और बुराई से रोकते हो और अल्लाह पर ईमान रखते हो।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-110)

एक दूसरे स्थान पर कहा गया—

"और इसी प्रकार हमने तुमको एक बीच का समुदाय बनाया है ताकि, तुम सारे मनुष्यों पर हक़ की गवाही क़ायम करनेवाले बनो और रसूल तुमपर गवाह हो।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-143)

एक जगह कहा गया—

"और तुम्हें एक ऐसे समुदाय का रूप धारण कर लेना चाहिए जो नेकी की ओर बुलाए और भलाई का आदेश दे और बुराई से रोके। यही सफलता प्राप्त करनेवाले लोग हैं।"

(कुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-104)

इस समुदाय का दायित्व यह है कि जिस प्रकार अल्लाह के रसूल ने उस तक सन्देश पहुँचाया है उसी प्रकार इस सन्देश के प्रचार-प्रसार के लिए वह सचेष्ट हो। इसके बिना यह समुदाय किसी तरह भी अपने दायित्व से निवृत्त नहीं हो सकता। दुनिया में जो बिगाड़ और उपद्रव पाया जाता है उसे समाप्त करने के लिए भी आवश्यक है, कि सत्य-धर्म की न्याय-संगत स्थापना के लिए लोगों को तैयार किया जाए। संसार मानवों की आविष्कृत व्यवस्थाओं की ख़राबियों से भलीभाँति परिचित हो चुका है। उसे एक ऐसे धर्म और जीवन-प्रणाली की आवश्यकता है जो न्याय पर आधारित हो, जिसका अनुपालन हर प्रकार की भलाई की ज़मानत हो।

फिर मानव के प्रति सहानुभूति और नैतिकता की अपेक्षा भी यही है कि मानवों को सबसे बड़े विनाश अर्थात नरक की यातना से बचाने की चिन्ता की जाए। जो चीज़ लोगों को नरक की आग से बचा सकती है वह अल्लाह की बन्दगी और उसके आदेशानुपालन के सिवा कुछ नहीं हो सकता। मुस्लिम समुदाय अपने पदीय कर्तव्य की ओर से ग़ाफ़िल हो गया है। धार्मिक निमंत्रण के लिए जो कोशिश होनी चाहिए और जिस तरह होनी चाहिए वह नहीं हो पा रही है, जबकि पदीय दायित्व के पूरा करने से ही मुस्लिम समुदाय की वे समस्याएँ भी हल हो सकती हैं जिनमें यह समुदाय स्वयं उलझा हुआ

है और उसकी ऊर्जा का बड़ा भाग उनमें विनष्ट हो रहा है।

यदि मुस्लिम समुदाय अपने पदीय कर्तव्य को पूरा करने की चिन्ता करता है तो अल्लाह की सहायता और उसका समर्थन उसे अवश्य प्राप्त होगा। अल्लाह अपने आज्ञाकारी बन्दों को कभी भी अपनी सहायता से वंचित नहीं रखता। फिर लोगों के दिल उसी की अंगुलियों के बीच हैं, दिलों को सत्य की ओर फेरनेवाला वही है।

सत्य-धर्म

वह धर्म जिसका आमंत्रण देना है

धर्म का आमंत्रण देना एक अनिवार्य कर्तव्य है, इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए आवश्यक है कि हम उस धर्म की वास्तविकता, उसकी प्रवृत्ति और उसकी मूलात्मा से भली-भाँति परिचित हों जिसका निमंत्रण इस दुनिया को देना चाहते हैं। क्योंकि हम ज्ञान के बिना धर्म का सही परिचय नहीं करा सकते। यह वह धर्म है जिसके द्वारा मनुष्य के स्वयं अपने मूल्य का भी निर्धारण होता है और उस मूल्य की सुरक्षा भी इसी धर्म के द्वारा सम्भव है। धर्म के आमंत्रण का अर्थ व आशय यह है कि मनुष्य को सही अर्थों में अपने मूल्य का ज्ञान और प्रतीति हो जाए और वह जान ले कि धर्म के अनुपालन का अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं कि मनुष्य अपने-आपको पहचान ले और अल्लाह ने उसे जो महानता प्रदान की है उसे वह विनष्ट न होने दे। इस धर्म के अनुपालन में मनुष्य का अपना भला और इसके विपरीत आचरण में उसकी अपनी ही हानि है।

धर्म की शिक्षा का उद्देश्य यह है कि मनुष्य को अपनी प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत करना आ जाए और वह उस जीवन-शैली को अपनाए जिसकी खोज सदैव मनुष्य को रही है। जिस किसी ने इसे अपनाया, अमृत्व और रमणीयता उसकी नियति बन गई। उसके जीवन में प्राकृतिक पवित्रता और उसके अस्तित्व ने यह पात्रता प्राप्त कर ली कि अल्लाह की शाश्वत अनुकम्पाएँ उसके हिस्से में आएँ और वह अशुद्ध अक्षर की तरह कभी मिटाया न जा सके। धर्म के अनुपालन का अर्थ ही यह होता है कि मनुष्य अँधेरों से निकलकर प्रकाश में आ गया। अब वह सब कुछ उसके लिए है जिसकी चाहत और कामना को जीवन कहते हैं, अर्थात् ख़ुशियाँ, हर्षोल्लास, ईश्वर का सामीप्य और अमृत्व!

धर्म का आमंत्रण देने का अर्थ यह है कि लोगों को ऐसे विचार से

परिचित कराया जाए जिससे उच्चतर किसी विचार की हम कल्पना भी नहीं कर सकते और उन्हें उस चीज़ का अभिलाषी बनाया जाए जिससे बढ़कर कोई चीज़ मनुष्य के लिए प्रिय नहीं हो सकती है। धर्म वह जीवन-पद्धति और जीवन-शैली है जो अत्यन्त आकर्षक है, और जो हृदय और दृष्टि दोनों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, जिसकी ओर आदमी खिँचे तो खिँचता चला जाए। धर्म का ज्ञान उसके लिए एक सौन्दर्य-बोध बन जाए, जिसकी उपेक्षा करना अपनी प्रकृति का अपमान है; यदि कोई उसकी उपेक्षा करता है तो सत्य की दृष्टि में वह अत्याचारी और अपराधी होगा।

धर्म अल्लाह की आज्ञा का पालन भी है और ईश्वर के ख़याल और उसके स्मरण से आनन्दित होना भी। यह धर्म ज्ञान भी है और कर्म भी। यह धर्म मनुष्य को उसके उच्च स्थान से परिचित कराता और उसे हर प्रकार की बदहाली और विनाश से सुरक्षित रखता है। धर्म का ज्ञान वास्तव में स्वयं आत्म-ज्ञान से भिन्न कोई चीज़ नहीं है। इसी लिए अल्लामा हमीदुद्दीन फ़राही (रह०) धर्म को अन्तर्विहार से अभिहित करते हैं। इससे उनकी वैचारिक गहराई का अनुमान भली-भाँति किया जा सकता है। धर्म अचेतन का नाम नहीं है, न वह शुष्कता की शिक्षा देता है। धर्म नाम है मन के सूक्ष्म व्यापार का। ईश्वर की प्रशंसा एवं स्तुति और उससे प्रेम ही वास्तव में धर्म का मूलाधार हैं। अल्लाह का गुणगान ही हमारा वास्तविक जीवन है, जैसे फूल का महकना ही वास्तव में फूल का होना है। यह स्तुति और उसकी प्रशंसा प्रेम से ओत-प्रोत होती है। इस ईश-प्रशंसा से इसका भी पता चलता है कि बन्दा अल्लाह का अत्यन्त कृतज्ञ है। अल्लाह ने उसपर अनुकम्पनाओं की जो बारिश की है, उसका उसे पूरा एहसास है। उसने कण को सूर्य की श्रेणी तक पहुँचाया और उसे वह कुछ प्रदान किया जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसने मनुष्य के भविष्य को उसके वर्तमान से अधिक विश्वसनीय और उत्तम बनाया, उसने वर्तमान जीवन को उसके भविष्य से सम्बद्ध कर दिया और दोनों के मध्य इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित कर दिया कि बन्दा अपने वर्तमान के दर्पण में अपने शानदार और रमणीय भविष्य का अवलोकन कर सकता है। यही वह चीज़ है जो मोमिन के जीवन में ईमान

की शक्ति बनकर क्रियाशील होती है और व्यक्ति को सन्देह, दुविधा और अविश्वास के जीवन से मुक्त करती है और बन्दा जीवन ही नहीं, मृत्यु के रहस्य से भी परिचित हो जाता है। वह जान जाता है कि मृत्यु जीवन के अन्त का नाम नहीं है। बल्कि मृत्यु से शाश्वत जीवन का आरम्भ होता है। मृत्यु जिसे जीवन की संध्या कहते हैं, संध्या नहीं, शाश्वत जीवन का प्रभात है।

यह धर्म नैतिकता भी है और चरित्र भी है। किन्तु नैतिकता वह जो व्यापकता लिए होती है और चरित्र वह जिसमें मानवों ही को नहीं बल्कि सम्पूर्ण जगत् को वशीभूत करने की शक्ति होती है। यहाँ अनमनापन और शिथिलिता और साहसहीनता नहीं पाई जाती। यहाँ कोई भावरिक्त और उदास संध्या नहीं पाई जाती। यहाँ विश्वास होता है, भरोसा होता है। यहाँ जीवन-रूपी भवन की नींव ईशपरायणता और ईश्वर की प्रसन्नता पर रखी गई होती है, जिससे बढ़कर किसी सुदृढ़ शिला की कल्पना भी नहीं कर सकते। यहाँ निराशा और पराजय नहीं। यहाँ ऐसा कोई दोष नहीं पाया जाता जिसे लोगों की दृष्टि से छिपाने की आवश्यकता हो।

यह वह धर्म है जिसकी सम्पूर्ण मानवता को आवश्यकता है। यह मानव की मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकता भी है और उसकी नैतिक और सामाजिक आवश्यकता भी। यह धर्म जीवन की उलझी हुई समस्याओं का हल भी है और मानव-आत्मा के लिए शान्ति और आनन्द भी है। इस्लाम के नाम से तो सभी परिचित हैं, किन्तु इस्लाम की अर्थवत्ता और उसके मूल्य से लोगों को परिचित कराना मुस्लिम समुदाय का पदीय दायित्व है। काश इस ओर ध्यानाकृष्ट कराने का सौभाग्य हमें प्राप्त हो सके!

—:—